# सलवा जुडूम और न्याय का लोकतंत्रीकरण

## नीति-निर्णय, उदारीकरण और सुप्रीम कोर्ट

**इंद्रजीत कुमार झा**

पाँच जुलाई, 2011 को नंदिनी सुंदर बनाम छत्तीसगढ़ राज्य[1] के वाद में सर्वोच्च न्यायालय के दो न्यायाधीशों की पीठ ने एक अहम फ़ैसला सुनाते हुए नक्सल विरोधी अभियान के लिए विशेष पुलिस अफ़सरों (एसपीओ) की नियुक्ति को असंवैधानिक बता दिया। इतना ही नहीं, इस फ़ैसले के अंतर्गत न्यायालय ने राज्य द्वारा अपनायी गयी विकास नीति की भी आलोचना की तथा उदारीकरण की नीति पर भी सवाल उठाये। मानवाधिकार-संगठनों एवं कई बुद्धिजीवियों द्वारा जहाँ इस निर्णय का स्वागत किया गया, वहीं बुद्धिजीवियों के

---

[1] *नंदिनी सुंदर एवं अन्य बनाम छत्तीसगढ़ राज्य (2011).* 2011 एआईआर 2839 (2011) 7 एससीसी 547; साथ ही देखें, सलवा जुडूम : संविधान के साथ खिलवाड़ : *नंदिनी सुंदर एवं अन्य बनाम छत्तीसगढ़ राज्य* के वाद में सर्वोच्च न्यायलय का फैसला (2011), (अनुवाद : कमल नयन चौबे) प्रकाशक : नंदिनी सुंदर, नयी दिल्ली; इस निर्णय को सलवा जुडूम निर्णय के रूप में भी जाना जाता है, क्योंकि यह केस मुख्य रूप से राज्य द्वारा प्रोत्साहित सलवा जुडूम आंदोलन के ख़िलाफ़ दायर किया गया था. यद्यपि इस आंदोलन को राज्य ने स्वत:स्फूर्त आंदोलन बताया, लेकिन कई सामाजिक एवं मानवाधिकार संगठनों ने इसे राज्य प्रायोजित रणनीति करार दिया. इस सिलसिले में व्यापक स्तर पर मानवाधिकार उल्लंघन के भी मामले सामने आये हैं जिनकी वजह से इसकी आलोचना होती रही है.

एक समूह ने विकास एवं उदारीकरण की नीति को सरकार का 'नीति-निर्णय' बताते हुए इस फ़ैसले को कार्यपालिका के मामले में न्यायपालिका के अनुचित हस्तक्षेप के रूप में देखा। छत्तीसगढ़ राज्य की सरकार ने भी इस फ़ैसले पर गम्भीर असंतोष व्यक्त किया तथा केंद्र सरकार ने फ़ैसले के ख़िलाफ़ सर्वोच्च न्यायालय में पुनर्विचार याचिका भी दायर की। हालाँकि केन्द्र सरकार द्वारा दायर पुनर्विचार याचिका की सुनवायी करते हुए नवम्बर, 2011 में सर्वोच्च न्यायालय ने इस फ़ैसले को केवल छत्तीसगढ़ राज्य की परिधि तक सीमित कर दिया।[2] लेकिन न्यायमूर्ति बी. सुदर्शन रेड्डी और न्यायमूर्ति सुरिन्दर सिंह निज्जर की पीठ द्वारा सुनाये गये इस फ़ैसले के बाद नीतिगत निर्णय और न्यायपालिका की भूमिका को लेकर जो वाद-विवाद उत्पन्न हुआ, उसने कई सवालों को भी जन्म दिया।

वस्तुतः इन दोनों न्यायाधीशों द्वारा सुनाया गया यह फ़ैसला केवल इसलिए महत्त्वपूर्ण नहीं है कि इसमें नक्सलविरोधी अभियान के लिए विशेष पुलिस ऑफ़िसरों (एसपीओ) की नियुक्ति को असंवैधानिक बताया गया है, बल्कि इस फ़ैसले में इससे भी जो महत्त्वपूर्ण बात है वह राज्य द्वारा अपनायी गयी उदारीकरण एवं विकास की नीति की आलोचना है। उदारीकरण की नीति अपनाने के बाद से सम्भवतः यह पहला मामला है जिसमें न्यायालय ने राज्य द्वारा अपनायी गयी विकास की नीति की इतनी मुखर आलोचना की है तथा उदारीकरण की नीति पर भी सवाल उठाये हैं। यद्यपि न्यायालय का यह फ़ैसला न्यायिक सीमा-रेखा का उल्लंघन करता है या नहीं, यह अपने-आप में एक अहम सवाल हो सकता है, लेकिन इससे भी महत्त्वपूर्ण सवाल जो है वह नीति-निर्णयों के प्रति न्यायालय की भूमिका को लेकर उत्पन्न होता है। क्या न्यायालय को सरकार के नीति-निर्णयों में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है? या फिर नीति-निर्णयों को लेकर न्यायालय की क्या भूमिका होनी चाहिए? इस लेख के अंतर्गत इन्हीं सवालों का उत्तर ढूँढ़ने का प्रयास किया गया है तथा उन कारणों की पड़ताल की गयी है जिनकी वजह से उदारीकरण के दौर में इस निर्णय की प्रासंगिकता और भी बढ़ जाती है।

**दोनों न्यायाधीशों द्वारा सुनाया गया यह फ़ैसला केवल इसलिए महत्त्वपूर्ण नहीं है कि इसमें नक्सलविरोधी अभियान के लिए विशेष पुलिस ऑफ़िसरों ( एसपीओ ) की नियुक्ति को असंवैधानिक बताया गया है, बल्कि इस फ़ैसले में इससे भी जो महत्त्वपूर्ण बात है वह राज्य द्वारा अपनायी गयी उदारीकरण एवं विकास की नीति की आलोचना है। उदारीकरण की नीति अपनाने के बाद से सम्भवतः यह पहला मामला है जिसमें न्यायालय ने राज्य द्वारा अपनायी गयी विकास की नीति की इतनी मुखर आलोचना की है तथा उदारीकरण की नीति पर भी सवाल उठाये हैं।**

## उदारीकरण से पूर्व न्यायपालिका

भारतीय संविधान के अंतर्गत संविधान-निर्माताओं ने समाजवादी पक्ष पर उदारवादी पक्षों को ही ज़्यादा वरीयता दी। इसीलिए संपत्ति के अधिकार जैसे उदारवादी पक्षों को जहाँ मौलिक अधिकार

[2] जे. वेंकटेशन (2011), 'एसपीओ बैन विल अप्लाय ओनली टू छत्तीसगढ़ : कोर्ट', द *हिंदू*, नयी दिल्ली, 18 नवंबर.

> उदारीकरण की नीति अपनाने के बाद न्यायिक सक्रियता के स्वरूप एवं जनहित याचिकाओं की प्रकृति को लेकर कई सारे सवाल उठने लगे। यद्यपि उदारीकरण के दौर में भी न्यायालय नागरिक अधिकारों की सुरक्षा के प्रति सतर्क दिखा लेकिन जिन मामलों में सीधे-सीधे सरकार की उदारीकरण और विकास की नीति से संबंधित सवाल सामने आये, न्यायालय ने न्यायिक आत्मसंयम का प्रयोग करते हुए याचिकाओं को ख़ारिज कर दिया।

के अंतर्गत न्यायालय का संरक्षण दिया गया था, वहीं समाजवादी दर्शन से संबंधित अधिकांश बातों को नीति-निर्देशक सिद्धांतों के अंतर्गत शामिल किया गया।[3] संविधान लागू होने के बाद आरम्भिक दो दशक तक न्यायालय ने भी एक तकनीकी एवं रूढ़िवादी रुख ही अपनाया, जो सरकार के समाजवादी कार्यक्रम के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा बना। इस वजह से इस दशक में विधानपालिका एवं कार्यपालिका के साथ न्यायपालिका का टकराव भी उत्पन्न हुआ।[4] लेकिन उत्तर-आपातकाल में भारतीय न्यायपालिका का एक नया अवतार दिखायी देता है।

इस काल में न्यायालय ने 'लोकस स्टेनडाई'[5] के प्रावधान को लचीला बनाते हुए जनहित याचिकाओं की शुरुआत की जिसे उपेन्द्र बख़्शी एवं एस.पी. साठे जैसे लोग सामाजिक कार्यवाही याचिका (सोशल एक्शन लिटिगेशन) कहना ज़्यादा उपयुक्त समझते हैं।[6] न्यायालय ने न्यायिक सक्रियता का नज़रिया अपनाते हुए मानव-अधिकार, बाल अधिकार, दैनिक मज़दूरों, बँधुआ मज़दूरों, महिला अधिकार, फुटपाथ पर रेहड़ी लगाने वाले लोगों, झुग्गी-झोंपड़ी में रहने वाले लोगों के हितों की सुरक्षा तथा पर्यावरण संरक्षण से संबंधित कई निर्णय दिये। जनहित याचिकाओं का सबसे बड़ा योगदान यह रहा कि इसने मौलिक अधिकारों के क्षेत्र को काफ़ी विस्तृत कर दिया। उदाहरण के लिए न्यायालय ने तेज़ी से मुक़दमों की सुनवाई का अधिकार, बंधक बनाकर रखने के ख़िलाफ़ अधिकार, यौन-उत्पीड़न के ख़िलाफ़ अधिकार, आश्रय का अधिकार,

---

[3] शोभनलाल दत्त गुप्ता (1989), *जस्टिस ऐंड द पॉलिटिकल ऑर्डर इन इंडिया : ऐन इनक्वैरी इनटू द इंस्टीट्यूशंस ऐंड आइडियोलॉजीज़, 1950-1972,* के.पी. बागची कम्पनी, कलकत्ता : 27-69.

[4] ग्रेनविले ऑस्टिन इस टकराव को संविधान के संरक्षण के लिए एक संघर्ष के रूप में देखते हैं जिसमें संसद एवं न्यायपालिका दोनों ही अपने आपको संविधान का सर्वोच्च संरक्षक बताने का दावा करते हैं। देखिये, ग्रेनविले ऑस्टिन (2000), 'द सुप्रीम कोर्ट ऐंड द स्ट्रगल फॉर द कस्टडी ऑफ़ द कांस्टीट्यूशन', बी.ऐन. कृपाल एवं अन्य (सम्पा.), *सुप्रीम बट नॉट इनफ़ालिएबल : एसेज़ इन ऑनर ऑफ़ द सुप्रीम कोर्ट ऑफ़ इंडिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली; (2009), *वर्किंग अ डेमॉक्रैटिक कांसटीट्यूशन : अ हिस्ट्री ऑफ़ द इंडियन एक्सपीरिएंस,* (छठा संस्करण), ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली, (प्रथम संस्करण 1999).

[5] 'लोकस स्टेनडाई' के अंतर्गत पहले यह प्रावधान था कि जिसके साथ कोई अन्याय हुआ है वह स्वयं न्यायालय में याचिका दायर करे। लेकिन न्यायाधीश वी.आर. कृष्ण अय्यर एवं पी.ऐन. भगवती के सक्रिय प्रयास से न्यायालय ने इस प्रावधान को लचीला (उदार) बनाते हुए यह व्यवस्था दी कि यदि किसी व्यक्ति के अधिकारों का हनन होता है किंतु वह व्यक्ति न्यायालय तक पहुँचने में सक्षम नहीं है तो कोई अन्य जागरूक व्यक्ति या संस्था जिसका मामले से कोई संबंध न भी हो, इसके संदर्भ में न्यायालय को सूचित कर सकता है जिसे न्यायालय एक याचिका के रूप में स्वीकार करेगा। विस्तृत विवेचन के लिए देखें, एस.पी. साठे (2002), *जुडीशियल एक्टिविज़्म इन इंडिया : ट्रांसग्रेसिंग बॉर्डर्स ऐंड इनफोर्सिंग लिमिट्स,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

[6] उपेंद्र बख़्शी (1989), 'टेकिंग सफ़रिंग सीरियसली : सोशल एक्शन लिटिगेशन इन द सुप्रीम कोर्ट ऑफ़ इंडिया', उपेंद्र बख़्शी (सम्पा.), *लॉ ऐंड पॉवर्टी : क्रिटिकल एसेज़,* ऐन.एम. त्रिपाठी, बंबई : 387-415; एस.पी. साठे, 2002: 18.

सम्मानपूर्ण जीवन जीने का अधिकार, स्वच्छ वातावरण का अधिकार, शिक्षा का अधिकार, क़ानूनी सहायता का अधिकार, हिरासतीय यातना के ख़िलाफ़ अधिकार जैसे कई तरह के अधिकारों को मौलिक एवं मानव अधिकार के अंतर्गत सम्मिलित किया।[7] भारत के संविधान में नीति-निर्देशक सिद्धांतों के अंतर्गत कई तरह के अधिकारों की चर्चा की गयी है लेकिन इन अधिकारों को मौलिक अधिकारों की तरह न्यायालय का संरक्षण प्रदान नहीं किया गया है। न्यायालय ने मौलिक अधिकारों की विस्तृत व्याख्या करके इन अधिकारों को भी मौलिक अधिकारों का एक भाग बताया। उदाहरण के लिए निवास करने के अधिकार, शिक्षा के अधिकार एवं बचपन के अधिकार को न्यायालय ने जहाँ संविधान के अनुच्छेद 21 के अंतर्गत समाहित किया वहीं न्यूनतम मज़दूरी प्राप्त करने के अधिकार को अनुच्छेद 21 एवं 23 के अंतर्गत सन्निहित किया। कुल मिलाकर न्यायालय ने न्याय को क़ानूनी जामे से निकालकर एक सामाजिक एवं आर्थिक अर्थ भी प्रदान किया। न्यायालय की इस कार्यवाही को पुनर्लोकतांत्रीकरण की प्रक्रिया के रूप में भी देखा गया तथा इसने सही मायने में भारतीय सर्वोच्च न्यायालय को भारतीयों का सर्वोच्च न्यायालय बना दिया।[8]

## उदारीकरण के बाद जनहित याचिका

भारत में उदारीकरण की नीति अपनाने के बाद न्यायिक सक्रियता के स्वरूप एवं जनहित याचिकाओं की प्रकृति को लेकर कई सारे सवाल उठने लगे। यद्यपि उदारीकरण के दौर में भी न्यायालय नागरिक अधिकारों की सुरक्षा के प्रति सतर्क दिखा लेकिन जिन मामलों में सीधे-सीधे सरकार की उदारीकरण और विकास की नीति से संबंधित सवाल सामने आये, न्यायालय ने न्यायिक आत्मसंयम का प्रयोग करते हुए याचिकाओं को ख़ारिज कर दिया। उदारीकरण के दौर में अपनायी गयी विकास की नीति के अंतर्गत बड़ी-बड़ी बाँध परियोजनाएँ, खनन उद्योग, कारखानों की स्थापना, मॉल के निर्माण एवं शहरों के सौंदर्यीकरण आदि के नाम पर विस्थापन तथा सरकारी कम्पनियों के विनिवेश एवं मज़दूरों की छँटनी को बढ़ावा देने के कारण समाज के हाशिये पर स्थित ग़रीब एवं शोषित तबक़ों की ही जीवन एवं जीविका प्रभावित हो रही है। इसीलिए न्यायालय द्वारा नीतिगत फ़ैसलों में आत्मसंयम का प्रयोग करने के कारण इनके हित सबसे ज़्यादा प्रभावित हुए हैं।

इतना ही नहीं, उदारीकरण के दौर में जनहित याचिकाओं पर वर्गीय स्वरूप की भी छाप दिखी है। यानी न्यायालय ने वैकासिक नीतियों से जुड़े होने के कारण न केवल ग़रीब एवं शोषित वर्गों के जीवन एवं जीविका से संबंधित मामलों में न्यायिक आत्मसंयम का प्रयोग किया है बल्कि कई याचिकाओं की सुनवायी करते हुए जो निर्देश दिये, उससे समाज का यह तबक़ा दोहरे हाशियाकरण का भी शिकार हुआ है। मसलन इस अवधि में पर्यावरण-संरक्षण से संबंधित कई मामले सामने आये जिन पर न्यायालय के निर्णयों में विरोधाभास दिखा। जहाँ पर्यावरणीय मुद्दों का टकराव ग़रीबों एवं शोषितों के सामाजिक अधिकारों के साथ हुआ वहाँ न्यायालय ने पर्यावरण संरक्षण के नाम पर इनके ख़िलाफ़ निर्णय दिये जबकि जहाँ पर्यावरणीय मुद्दों का टकराव बड़े-बड़े वाणिज्यिक एवं कॉरपॉरेट हितों के साथ हुआ वहाँ न्यायालय ने इसे विकास से जोड़ते हुए सरकार का नीतिगत फ़ैसला बताया एवं पर्यावरणीय मुद्दों को भी दरकिनार कर दिया।[9] इतना ही नहीं, न्यायालय ने कई मामलों में लोकतंत्र

---

[7] परमानन्द सिंह (2008), 'पब्लिक इटरेस्ट लिटिगेशन', कमला शंकरन एवं उज्ज्वल कुमार सिंह (सम्पा.), *टुवर्ड्स लीगल लिट्रेसी : ऐन इंट्रोडक्शन टू लॉ इन इंडिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली : 22-23.

[8] उपेंद्र बख्शी (1989) : 387-415; (1997 क), 'जुडिशियल एक्टिविज़्म : यूज़रपेशन ऑर रिडेमॉक्रैटाइज़ेशन?', *सोशल एक्शन,* खण्ड 47, अंक 4.

[9] प्रशांत भूषण (2009), 'मिसप्लेस्ड प्रायोरिटी ऐंड क्लास बायस ऑफ़ द जुडिशियरी', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 54, अंक 14.

की आवाज़ को भी सुनने का प्रयास नहीं किया तथा विकास के संदर्भ में राज्य द्वारा दिये जाने वाले तर्क के साथ ही सुर मिलाया। उदारहण के लिए टिहरी जल विद्युत परियोजना, कोंकण रेलवे परियोजना और नर्मदा बाँध परियोजना जैसे मामलों में न्यायालय ने न्यायिक आत्मसंयम अपनाया। न्यायालय ने अपनी ही शक्ति को सीमित करते हुए तर्क दिया कि, यह देखना न्यायालय का काम नहीं है कि कार्यपालिका ने सही निर्णय लिया है या नहीं। न्यायालय का काम केवल यह देखना है कि इस तरह का निर्णय लेते समय कार्यपालिका ने सभी प्रक्रियाओं का पालन किया है या नहीं।[10] इस तरह से यहाँ न्यायालय ने विकास के नाम पर पर्यावरणीय मुद्दों को भी दरकिनार कर दिया। लेकिन दूसरी तरफ़ सर्वोच्च न्यायालय ने वर्ष 2000 में दिल्ली में सरकारी ज़मीन से झुग्गी-झोंपड़ियों एवं अवैध कॉलोनियों को हटाने के निर्देश दिये तथा 2006 में यमुना किनारे झुग्गी-बस्ती को तोड़ने के ख़िलाफ़ दायर जनहित याचिका को ख़ाारिज कर दिया।[11]

2006 में नगला माची स्लम के संदर्भ में न्यायालय ने एक हिला देने वाला फ़ैसला दिया। यमुना नदी के किनारे एवं प्रगति मैदान के समीप बसे इस स्लम को प्रदूषण के नाम पर तोड़ने के आदेश के ख़िलाफ़ दायर जनहित याचिका को सर्वोच्च न्यायालय ने ख़ारिज कर दिया। अधिवक्ता प्रशांत भूषण ने न्यायालय के समक्ष यह दलील पेश की कि यहाँ 1970 के दशक से लोग रहते थे। अपनी जीविका चलाने के लिए कोई साधन नहीं होने के कारण ये रोज़गार की तलाश में दिल्ली आये हैं। उन्होंने न्यायालय के पूर्व-निर्णयों का उल्लेख करते हुए निवास करने के अधिकार को एक मौलिक अधिकार भी बताया। लेकिन इनकी दलीलों को ख़ाारिज करते हुए न्यायाधीश रूमा पाल एवं मार्कण्डेय काटजू की पीठ ने कहा कि कोई आपको ज़बरदस्ती दिल्ली आने के लिए नहीं कहता है। क्या यह अधिकार केवल दिल्ली में ही रहने का अधिकार है? आप जहाँ चाहें वहाँ रह सकते हैं। यदि सार्वजनिक ज़मीन पर अतिक्रमण की अनुमति दे दी जाएगी तो एक अराजक अवस्था उत्पन्न हो जाएगी। यहाँ तक कि जब प्रशांत भूषण ने यह गुज़ारिश की कि इस तपती गर्मी में झुग्गीवासियों के पास रहने के लिए कोई दूसरी जगह नहीं है, तो न्यायालय ने जवाब दिया कि भारत में तीन तरह के मौसम होते हैं— गर्मी, बरसात और सर्दी। यदि हम आपके तर्क को स्वीकार कर लें तो फिर सार्वजनिक जगह से अतिक्रमण हटाने के लिए कोई भी समय उपयुक्त नहीं होगा। इस दलील के साथ न्यायालय की पीठ ने तीन हफ़्ते के अंदर लोगों को ज़मीन ख़ाली कर देने के लिए कहा तथा ऐसा नहीं करने पर उन्हें बलपूर्वक हटाने का आदेश दिया।[12] न्यायालय का यह निर्णय पूर्व में सुनाये गये अपने ही निर्णय के विपरीत था जिसमें उसने निवास करने के अधिकार को मौलिक अधिकार के अंतर्गत सन्निहित माना था तथा यह आदेश दिया था कि बिना किसी वैकल्पिक व्यवस्था के किसी को नहीं हटाया जा सकता है।[13]

आश्चर्य की बात यह है कि सर्वोच्च न्यायालय को यमुना नदी के किनारे राष्ट्रमंडल खेल गाँव के निर्माण में कोई पर्यावरणीय समस्या नहीं दिखायी दी। यहाँ तक कि सर्वोच्च न्यायालय ने 30 जुलाई,

---

[10] विदेह उपाध्याय (2000), 'चेंज़िंग जुडिशियल पॉवर : कोर्ट ऐंड इंफ्रास्ट्रक्चर प्रोजेक्ट ऐंड इनवायरॉनमेंट', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 45, अंक 35; निवेदिता मेनन और आदित्य निगम (2007), *पॉवर ऐंड कॉन्टेस्टेशन : इंडिया सिंस 1989,* जेड बुक्स, लंदन.

[11] प्रशांत भूषण (2004), 'सुप्रीम कोर्ट ऐंड पीआईएल : चेंजिंग पर्सपेक्टिव अंडर लिबरलाइज़ेशन', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 39, अंक 18; (2007), 'पब्लिक इंटरेस्ट लिटिगेशन : सुप्रीम कोर्ट इन एरा ऑफ़ लिबरलाइज़ेशन', बी.डी. दुआ, एम.पी. सिंह और रेखा सक्सेना (सम्पा.), *इंडियन जुडिशियरी एंड पॉलिटिक्स : द चैलेंजिंग लैण्डस्केप,* मनोहर, नयी दिल्ली; निवेदिता मेनन और आदित्य निगम 2007: 78.

[12] देखें, 'इनक्रोचर्स हैव नो राइट ओवर पब्लिक लैण्ड' *द टाइम्स ऑफ़ इंडिया,* नयी दिल्ली, 10 मई 2006: 3; शोमा चौधरी (2006), 'द नंगलामाची ब्लॉगर्स', *तहलका,* 3 जून, खण्ड 3, अंक 21.

[13] उदाहरण के लिए हम *ओल्गा टेलिस* के वाद में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय को देख सकते हैं। देखें, *ओल्गा टेनिस बनाम मुंबई म्युनिसिपल कॉरपोरेशन एवं अन्य (1985).* 1986 एआईआर 180 (1985) 3 एससीसी 545.

2009 को सुनाये गये अपने फ़ैसले में दिल्ली उच्च न्यायालय के फ़ैसले को भी निरस्त कर दिया। यमुना किनारे राष्ट्रमंडल खेल गाँव के निर्माण के ख़िलाफ़ दिल्ली उच्च न्यायालय में एक याचिका दायर की गयी थी तथा उच्च न्यायालय ने विशेषज्ञ कमेटी की रिपोर्ट के आधार पर इस निर्माण-स्थल को नदी तल (रिवर बेड) स्वीकार किया। लेकिन सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि उच्च न्यायालय द्वारा निर्माण-स्थल को नदी तल बताये जाने को स्वीकार नहीं किया जा सकता है।[14] इससे पहले भारतीय जनता पार्टी की नेतृत्व वाली राष्ट्रीय लोकतांत्रिक गठबंधन सरकार के समय यमुना नदी के किनारे अक्षरधाम मंदिर का भी निर्माण हुआ था तथा 2005 में सर्वोच्च न्यायालय ने इसके निर्माण को भी स्वीकृति दी थी। न्यायालय के ये निर्णय जनवरी, 2011 में और भी ज़्यादा सवालों के घेरे में आ गये जब तत्कालीन पर्यावरण मंत्री जयराम रमेश ने यमुना किनारे हुए इन दोनों ही निर्माणों को पर्यावरणीय दृष्टिकोण से ग़लत बताया।[15] इसी प्रकार वर्ष 2000 एवं 2001 में सर्वोच्च न्यायालय की ग्रीन बेंच ने दिल्ली के रिहायशी इलाक़ों से पर्यावरण के दृष्टिकोण से ख़तरनाक उद्योगों को हटाने के निर्देश जारी किये जिसके कारण तक़रीबन 98,000 औद्योगिक इकाइयों में लगे लाखों लोग बेरोज़गार हो गये। इन लोगों को न तो कोई मुआवज़ा मिला न ही इनके रोज़गार के लिए कोई वैकिल्पक व्यवस्था की गयी।

## बालको का मामला : नीति-निर्णय एवं जनिहत याचिकाओं पर अंकुश

उदारीकरण के दौर में न्यायालय का एक अहम फ़ैसला भारत एल्युमिनियम कम्पनी (बालको) के विनिवेश के संदर्भ में भी आया जिसमें न्यायालय ने न केवल विनिवेश के खि़लाफ़ दायर याचिका को ख़ाारिज कर दिया बल्कि जनहित-याचिकाओं के लिए भी कई सारी शर्तें निर्धारित कर दीं। यद्यपि जनहित-याचिकाओं के दुरुपयोग को देखते हुए न्यायालय द्वारा आरोपित इस तरह के नियंत्रण आवश्यक भी प्रतीत होते हैं। लेकिन इस मामले में इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि इसमें न्यायालय ने विनिवेश को सरकार की आर्थिक नीति का मुद्दा बताया तथा इस आधार पर मामले में हस्तक्षेप करने से मना कर दिया। न्यायालय ने यह भी स्पष्ट कहा कि सरकार के आर्थिक एवं वित्तीय निर्णय इसकी प्रशासनिक शक्तियों के अंतर्गत लिए जाते हैं इसलिए जनहित याचिकाओं का प्रयोग सरकार के इन नीतिगत फ़ैसलों के ख़िलाफ़ हथियार के रूप में नहीं होना चाहिए।[16]

बालको के बाद न्यायालय ने नेशनल टेक्सटाइल वर्कर्स और समथा के बारे में सुनाये गये अपने ही दो महत्त्वपूर्ण निर्णयों की भी अनदेखी की जो क्रमश: श्रमिकों के अधिकारों तथा ग़ैर-आदिवासी को आदिवासियों की ज़मीन हस्तांतरित करने से संबंधित थे।

*नेशनल टेक्सटाइल वर्कर्स युनियन बनाम पीआर रामकृष्णन एवं अन्य*[17] के मामले में कर्मचारियों ने कम्पनी को बंद किये जाने का विरोध करने और अपनी जीविका को सुरक्षित रखने के अधिकार

---

[14] देखिये, 'एससी क्लियर कंस्ट्रक्शन ऑन गेम विलेज़ साइट' द *इंडियन एक्सप्रेस*, नयी दिल्ली, 31 जुलाई 2009 : 1.

[15] जयराम रमेश ने अपने ही मंत्रालय पर सवाल उठाते हए कहा कि यमुना के किनारे इसके नदी तल में न तो राष्ट्रमंडल खेल गाँव को और न ही अक्षरधाम मंदिर के निर्माण को अनुमति दी जानी चाहिए थी. उन्होंने कहा, 'क्या राष्ट्रमंडल खेल गाँव ने पर्यावरण मंज़ूरी ली? हाँ, इसे यह मंज़ूरी मिली. क्या इसे यह मंज़ूरी मिलनी चाहिए थी? नहीं, मुझे नहीं लगता है कि इसे यह स्वीकृति मिलनी चाहिए थी. क्या अक्षरधाम मंदिर के निर्माण को अनुमति मिलनी चाहिए थी? मुझे नहीं लगता है कि इसे मंज़ूरी मिलनी चाहिए थी.' देखें, 'टेम्पल, सीडब्ल्यूजी विल्लेज़ शुड नॉट हैव कम अप ऑन रिवर बेड : जयराम', द *इंडियन एक्सप्रेस*, दिल्ली, 8 जनवरी 2011 : 1.

[16] *बालको इम्पलॉयी युनियन बनाम युनियन ऑफ़ इंडिया एवं अन्य (2001)*. 2002 एआईआर 350 (2002) 2 एससीसी 333.

[17] *नेशनल टेक्सटाइल वर्कर्स युनियन बनाम पीआर रामकृष्णन और अन्य (1983)*. 1983 एआईआर 750 (1983) 3 एससीसी 105.

माँगे थे। इस संबंध में न्यायालय ने श्रमिकों के हित में फ़ैसला सुनाते हुए व्यवस्था दी कि, यह प्रशासनिक क़ानून का सुस्थापित सिद्धांत है कि राज्य या सार्वजनिक प्राधिकरण द्वारा विपरीत नागरिक प्रभावों वाला कोई आदेश नहीं दिया जा सकता। न्यायालय ने यह भी स्पष्ट किया कि यह पारम्परिक सिद्धांत कि कम्पनी शेयरधारकों की एक सम्पत्ति है, एक मिथक है। पहले यह होता था कि किसी कम्पनी के स्वामित्व की पहचान उसके लिए पूँजी जुटानेवालों से होती थी लेकिन यह पूँजीवादी समाज की सोच थी जिससे कम्पनी का विचार अंकुरित हुआ। लेकिन बदलते सामाजिक-आर्थिक दृष्टिकोणों और मूल्यों की रोशनी में अब इसे वैध नहीं समझा जा सकता। यह सच है कि शेयरधारक पूँजी जुटाते हैं, मगर यह काफ़ी नहीं है। यह केवल उन कारकों में से एक है जो राष्ट्रीय सम्पदा के उत्पादन में योगदान करते हैं। एक अन्य समान महत्त्व का कारक है—श्रम। पूँजी के स्वामी तो केवल पूँजी लगाते हैं लेकिन श्रमिक उत्पादन में प्रमुख हिस्सेदारी करते हैं। जहाँ पहला केवल अपने धन का हिस्सा लगाता है वहीं दूसरा अपना पसीना और मेहनत, बल्कि अपना जीवन लगा देता है।

इस प्रकार इस मामले में न्यायालय ने श्रमिकों के हितों को काफ़ी प्राथमिकता दी थी। लेकिन बालको के वाद में न्यायालय ने अपने इस निर्णय पर कोई ध्यान नहीं दिया। न्यायालय के अनुसार यद्यपि नेशनल टेक्सटाइल वर्कर्स के वाद में प्रभावित होने वाले मज़दूरों को अपना पक्ष रखने और उसकी बातों को सुनने का अधिकार स्वीकार किया गया था। लेकिन यह निर्णय उस वाद की परिस्थिति के अनुसार दिया गया था। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ऐसे मामलों में कर्मचारियों से मशविरा करना बाध्यकारी है।[18]

बालको के वाद में न्यायालय ने *समथा बनाम आंध्र प्रदेश राज्य* के वाद में दिये गये निर्णय को भी मानने से इनकार कर दिया।[19] इस वाद में न्यायालय ने निर्णय दिया था कि कोई व्यक्ति जो अनुसूचित जनजाति का नहीं है, जनजातीय लोगों की भूमि हस्तांतरण के आधार पर नहीं ले सकता है, चाहे वह कोई सरकारी निगम ही क्यों न हो। बालको के मामले में न्यायालय ने दलील दी कि दोनों राज्यों के क़ानून में अंतर है अत: यह निर्णय बालको के केस में लागू नहीं होता है।[20]

हालाँकि यह सही है कि यहाँ मध्य प्रदेश लैंड रेवेन्यू कोड, 1959 के अंतर्गत सीधे तौर पर इस तरह के भूमि-हस्तांतरण की मनाही नहीं की गयी है। लेकिन यहाँ न्यायालय संविधान की पाँचवीं अनुसूची के प्रावधानों का उल्लंघन करने के नाम पर मध्य प्रदेश लैंड रेवेन्यू कोड की भी समीक्षा पर सकती थी। लेकिन न्यायालय ने इसे संवैधानिक प्रावधानों के आधार पर देखने के बजाय समथा के वाद में सुनाये गये निर्णय पर ही सवाल उठाये। न्यायालय ने संविधान के अनुच्छेद 145(3) का उल्लेख करते हुए कहा कि संवैधानिक व्याख्या से संबंधित किसी प्रश्न की सुनवाई के लिए कम से कम पाँच न्यायाधीशों की पीठ होनी चाहिए लेकिन समथा के वाद में केवल तीन न्यायाधीशों की पीठ ने ही पाँचवीं अनुसूची की व्याख्या करके फ़ैसला सुना दिया। यद्यपि न्यायालय ने इस आधार पर समथा के वाद में दिये गये फ़ैसले की वैधता पर टिप्पणी करने से इनकार किया और मध्य प्रदेश लैंड रेवेन्यू कोड के प्रावधानों के आधार पर ही फ़ैसला सुनाया। लेकिन यहाँ जब न्यायालय के संज्ञान में

---

[18] *बालको केस, 2002 एआईआर 350.*

[19] *समता बनाम आंध्र-प्रदेश राज्य (1997).* एआईआर 3297, (1997) 8 एससीसी 191.

[20] छत्तीसगढ़ सरकार की ओर से न्यायालय में बताया गया कि बालको को जो ज़मीन लीज़ पर दी गयी है वह आदिवासियों की ज़मीन है जिसे किसी ग़ैर-आदिवासी को नहीं दिया जा सकता. बालको को सार्वजनिक कम्पनी के रूप में ज़मीन दी गयी थी लेकिन विनिवेश के बाद वह एक निजी कम्पनी बन गई, अत: इसे ज़मीन नहीं दी जा सकती. लेकिन न्यायालय ने फ़ैसला दिया कि 25 साल पहले 1976 में बालको को यह ज़मीन मध्य प्रदेश लैंड रेवेन्यू कोड के अंतर्गत ही दी गयी थी और 2001 में बालको का 51 प्रतिशत हिस्सा बेचने के बाद भी यह बालको के पास ही रहेगी. इसलिए यह अवैध नहीं है।. देखें *बालको केस, 2002 एआईआर 350.*

यह मामला आया तो न्यायालय बालको के वाद में भी पाँच न्यायाधीशों की पीठ का गठन कर सकती थी और पाँचवीं अनुसूची के प्रावधानों के अंतर्गत मध्यप्रदेश लैंड रेवेन्यू कोड की समीक्षा कर सकती थी। लेकिन न्यायालय ने ऐसा नहीं किया।

इस तरह से सर्वोच्च न्यायालय ने इस निर्णय में सरकार की आर्थिक नीतियों के मामले में स्वनियंत्रण अपनाने की बात की। न्यायालय के इस निर्णय को सरकार ने एक हथकंडे के रूप में प्रयोग किया। चूँकि संविधान के अनुच्छेद 129 के अंतर्गत सर्वोच्च न्यायालय एक अभिलेख न्यायालय होता है तथा इसके द्वारा दिये गये निर्णय निचली अदालतों के लिए बाध्यकारी होते हैं। अत: इसका परिणाम यह हुआ कि निचली अदालतों में सरकारी फ़ैसलों को चुनौती देने वाली कई याचिकाओं को केवल इस आधार पर ख़ारिज कर दिया गया क्योंकि ये सरकार की आर्थिक नीतियों से संबंधित थीं। इस तरह से न्यायालय के इस फ़ैसले के बाद सरकार के लिए सरकारी उपक्रमों का विनिवेश एवं निजीकरण करना काफ़ी आसान हो गया। उल्लेखनीय है कि दिसम्बर, 1999 में विनिवेश विभाग की स्थापना से लेकर 30 जून, 2007 तक विभिन्न उच्च न्यायालयों एवं सर्वोच्च न्यायालय में कुल मिलाकर 96 मामले दायर हुए, जो विनिवेश से संबंधित थे।[21] इनमें से कई मामलों को महज़ बालको केस का हवाला देते हुए ख़ारिज कर दिया गया।[22] इसकी वजह से व्यापक पैमाने पर श्रमिकों की छँटनियाँ हुईं तथा कॉन्ट्रेक्ट पर काम करवाने की प्रवृत्ति में भी इज़ाफ़ा हुआ जिसने मज़दूरों के शोषण को बढ़ावा दिया।[23] कई मामलों में तो मुनाफ़े में चल रहे सरकारी उपक्रमों को काफ़ी कम क़ीमत पर बेचा गया जिसका ख़ुलासा 2006 में नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक (सीएजी) की रिपोर्ट में भी हुआ।[24] लेकिन न्यायालय के इस स्व-नियंत्रण के कारण इन मामलों की भी जाँच नहीं हो सकी।

## नीति-निर्णय एवं स्व-नियंत्रण

पिछले कुछ वर्षों से नीति-निर्णय से संबंधित मामलों में न्यायालय की भूमिका को लेकर न्यायशास्त्र में काफ़ी कुछ लिखा गया है। सर्वोच्च न्यायालय के अंदर भी इस बात को लेकर स्वीकृति बढ़ी है कि न्यायालय को सरकार के नीति-निर्णयों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। न्यायालय के ये विचार

---

[21] भारत सरकार (2007), *व्हाइट पेपर ऑन डिसइनवेस्टमेंट ऑफ़ सेंट्रल पब्लिक सेक्टर इंटरप्राइजेज,* वित्त मंत्रालय, विनिवेश विभाग, 31 जुलाई.

[22] उदाहरण के लिए यहाँ हम आगरा अशोक होटल के विनिवेश के मामले को देख सकते हैं, जिसे केवल बालको केस के निर्णय का उल्लेख करते हुए खारिज़ कर दिया गया. देखें, *ऑल इंडिया आईटीडीसी वर्कर्स युनियन एवं अन्य बनाम आईटीडीसी एवं अन्य (2006).* 2007 एआईआर 301 (2006) 10 एससीसी 66.

[23] सितम्बर-अक्टूबर 2011 के दौरान बालको के श्रमिकों की स्थिति के संदर्भ में किये गये मेरे फ़ील्ड वर्क के दौरान यहाँ श्रमिकों की छँटनी, ज़बरदस्ती वीआरएस थोपने, स्थायी प्रकृति के काम में भी कांट्रेक्ट पर काम करवाने की बढ़ती प्रवृत्ति, न्यूनतम मज़दूरी के उल्लंघन और श्रमिकों के रहन-सहन की स्थिति से संबंधित अनेक समस्याएँ सामने आयीं. इस संदर्भ में वी.वी. गिरि राष्ट्रीय श्रम संस्थान द्वारा 2006 में प्रकाशित रिपोर्ट भी देखी जा सकती है. इस रिपोर्ट में बालको के विनिवेश के बाद ज़बरदस्ती वीआरएस थोपने से लेकर अन्य कई तरह की समस्याओं के बारे में जानकारी दी गयी है। इस रिपोर्ट पर वर्ष 2007 में राज्यसभा में भी बहस हो चुकी है. देखें, बाबू पी. रमेश (2006), *इम्पेक्ट ऑफ़ प्राइवेटाइज़ेशन ऑन लेबर : अ स्टडी ऑफ़ बालको डिसइनवेस्टमेंट,* वी.वी. गिरि नेशनल लेबर इन्सटीट्यूट, नोएडा; राज्यसभा डिबेट (2007) 'इम्पेक्ट ऑफ़ प्राइवेटाइज़ेशन ऑफ़ बालको ऑन लेबर', प्रश्न संख्या 669, 26 नवंबर : 67-68.

[24] उल्लेखनीय है कि कंप्ट्रॉलर ऐंड ऑडिटर जनरल ऑफ़ इंडिया ने अपनी रिपोर्ट (2006 की रिपोर्ट संख्या 17) में कई कम्पनियों के विनिवेश में अनियमितता का आरोप लगाया. इसमें बताया गया है कि मुनाफ़े में चल रही कई कम्पनियों की क़ीमत कम करके आँकी गयी. इस मामले के सामने आने के बाद सरकार ने बालको के बाक़ी 49 प्रतिशत हिस्से के एवज़ में स्टर्लाइट कम्पनी से प्राप्त किये गये 10.99 अरब रुपये का चेक वापस कर दिया. देखें, 'बालको रेसिड्वल स्टेक सेल स्टॉल्ड', इंडो एशियन न्यूज सर्विस (आइएऐनएस), 2006, 31 अगस्त, www.ians.in से 23 मई 2011 को देखा गया; 'सीएजी रेज़िज़ क्वेश्चंस ओवर बालको वलुएशन,' द *इंडियन एक्सप्रेस,* दिल्ली, 2002, 19 सितंबर : 1.

न केवल विभिन्न फ़ैसलों में सामने आये हैं बल्कि समय-समय पर विभिन्न मुख्य न्यायाधीशों ने भी सेमिनारों और गोष्ठियों में इस तरह के मामलों में न्यायालय से आत्मसंयम बरतने का विचार प्रकट किया है। लेकिन सरकार की किन नीतियों को नीतिगत निर्णय कहा जाये और किन मामलों में न्यायालय आत्मसंयम का प्रयोग करे, यह भी एक समस्या है। इसीलिए यहाँ संक्षेप में न्यायिक आत्मसंयम के पीछे के दर्शन या सोच को भी समझने की ज़रूरत है।

जहाँ तक नीतिगत निर्णय का संबंध सरकार की आर्थिक नीतियों से है, तो इस संदर्भ में न्यायालय द्वारा हस्तक्षेप कोई नयी परिघटना नहीं है। यद्यपि संविधान लागू होने के आरम्भिक कुछ वर्षों में न्यायालय की भूमिका महज़ क़ानून की व्याख्या तक ही सीमित रही। क़ानूनी प्रत्यक्षवाद (लीगल पॉजिटिविज़म) के अंग्रेज़ी विचार-सम्प्रदाय का पालन करते हुए न्यायालय ने समय और परिस्थिति के अनुसार विस्तृत संदर्भ में क़ानून की व्याख्या न करके संविधान और क़ानून की शब्दश: व्याख्या के आधार पर ही अपने फ़ैसले दिये[25] जिसे राजीव धवन काला अक्षर क़ानून (ब्लैक लेटर लॉ) परम्परा के पालन के रूप में देखते हैं।[26] इस समय एक तो विधानपालिका में संविधान सभा से जुड़े लोग थे और दूसरी तरफ़ न्यायाधीश भी अंग्रेज़ी प्रत्यक्षवादी परम्परा को मानने वाले थे। इसलिए राजनैतिक व्यवस्था के लिए न्यायालय को अपने पक्ष में समझा लेना कहीं ज़्यादा आसान था।[27]

नेहरू के पूरे कार्यकाल के दौरान संसद ने संविधान में जो भी संशोधन किये, उन पर न्यायालय ने कोई ख़ास आपत्ति नहीं की एवं संशोधनों की वैधता को स्वीकार किया। लेकिन संविधान और क़ानून के काले अक्षरों के अंदर अपनी भूमिका को समेटने के बावजूद न्यायालय अपनी शक्ति के प्रति भी सजग रहा। इसका उदाहरण 1951 में *शंकरी प्रसाद बनाम युनियन ऑफ़ इंडिया* के वाद में दिखायी देता है, जिसमें प्रथम संविधान संशोधन की वैधता को चुनौती दी गयी थी।[28] मुख्य न्यायाधीश पतंजलि शास्त्री ने यहाँ संसद द्वारा विधायी शक्ति का प्रयोग करके बनाये गये वास्तविक क़ानून और संवैधानिक शक्तियों के प्रयोग से पारित संवैधानिक क़ानूनों के बीच अंतर करते हुए कहा कि संविधान के अनुच्छेद 13(2) में प्रयुक्त शब्द क़ानून के अंतर्गत संविधान-संशोधन नहीं आता है। इस तरह से इस निर्णय के अंतर्गत न्यायालय ने जहाँ प्रथम संशोधन को वैध ठहराया, वहीं संसदीय क़ानूनों पर न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति को भी स्थापित किया। आगे चलकर 1965 में *सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य* के वाद में यद्यपि न्यायाधीश हिदायतुल्ला एवं माधोलकर ने इस बात को लेकर आशंका ज़ाहिर की कि अनुच्छेद 368 के अंतर्गत संविधान-संशोधन करके संसद को संविधान के भाग-3 में दिये गये मौलिक अधिकारों को किसी भी तरह से कम करने की शक्ति है लेकिन मुख्य न्यायाधीश गजेन्द्र गड़कर की अध्यक्षता में पाँच न्यायाधीशों की पीठ के बहुसंख्यक निर्णय ने पूर्व

---

[25] इस संदर्भ में गोपालन के वाद को देख सकते हैं. गोपालन के वाद में न्यायालय ने अनुच्छेद 21 के अंतर्गत 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' या 'व्यक्तिगत स्वतंत्रता' के अधिकार की विस्तृत अर्थ में व्याख्या करने से इनकार कर दिया और प्रत्यक्षवादी रुख अपनाते हुए क़ानून एवं संविधान की मशीनीकृत व्याख्या पर ही बल दिया. देखें, एस.पी. साठे, (2002) : 42.

[26] राजीव धवन (1997), 'इंट्रोडक्शन', मार्क गेलेंटर लिखित, *लॉ ऐंड सोसाइटी इन मॉडर्न इंडिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली : 31i-31iii.

[27] एस.पी. साठे (2002) : 6.

[28] इस संशोधन द्वारा संविधान में नौवीं अनुसूची के रूप में एक नयी अनुसूची जोड़ी गयी थी जिसमें डाले गये क़ानूनों के ऊपर न्यायालय अपनी न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का प्रयोग नहीं कर सकता था. इस संशोधन का मकसद नेहरू की समाजवादी आर्थिक नीति के अंतर्गत पारित किये गये भूमि-सुधार क़ानूनों की समीक्षा को न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र से बाहर रखना था. चूँकि संसद द्वारा पारित यह संशोधन संविधान के अनुच्छेद 31 में दिये गये सम्पत्ति के अधिकार का उल्लंघन करता था इसलिए न्यायालय में इस संशोधन की वैधता को चुनौती दी गयी थी. शंकरी प्रसाद वाद के निर्णय के लिए देखें, *शंकरी प्रसाद बनाम युनियन ऑफ़ इंडिया (1951).* 1951 एआईआर 458, 1952 एससीआर 89.

में दिये गये शंकरी प्रसाद के फ़ैसले को ही क़ायम रखा।[29] इस तरह से नेहरू के शासन काल तक संसद एवं सर्वोच्च न्यायालय के बीच कोई गम्भीर टकराव नहीं दिखायी दिया और इसलिए इस समय न्यायालय की सीमा रेखा का सवाल भी नहीं दिखायी देता है।

सरकार की आर्थिक नीतियों को लेकर न्यायालय और संसद के बीच सबसे ज़्यादा टकराव इंदिरा गाँधी के शासनकाल में दिखायी देता है जब 1967 में *गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य* के वाद में सर्वोच्च न्यायालय के ग्यारह न्यायाधीशों की पीठ ने 6:5 के बहुमत से निर्णय देते हुए संसदीय क़ानून एवं संवैधानिक क़ानून के बीच के अंतर को मानने से इनकार कर दिया और इस आधार पर सम्पत्ति के अधिकार का उल्लंघन करने वाले पहले, चौथे एवं सतरहवें संविधान-संशोधनों को असंवैधानिक बता दिया।[30] इस निर्णय ने क़ानूनविदों के बीच न्यायालय की भूमिका को लेकर एक नयी बहस को जन्म दिया। न्यायालय के इस निर्णय की काफ़ी आलोचना हुई एवं एस.पी. साठे, सीरावाई, पी.के. त्रिपाठी एवं एम.पी. जैन जैसे कई क़ानूनविदों के विचारों में प्रत्यक्षवादी विचार-सम्प्रदाय की तरफ़ झुकाव दिखायी दिया। इनके अनुसार न्यायालय का कार्य, क्या होना चाहिए, यह बताने के बजाय संविधान में जो है उसे बताना है।[31] इस निर्णय के कुछ ही दिनों के बाद मुख्य न्यायाधीश सुब्बा राव अपने पद से त्यागपत्र देकर राष्ट्रपति के चुनाव में एक उम्मीदवार बने और लगभग सभी विपक्षी दलों ने उनकी उम्मीदवारी का समर्थन किया। चुनाव में सुब्बा राव की उम्मीदवारी की काला अक्षर क़ानून परम्परा से जुड़े न्यायविदों और क़ानूनविदों द्वारा काफ़ी आलोचना हुई क्योंकि इस परम्परा के अंतर्गत न्यायाधीशों से राजनैतिक प्रक्रिया से पृथक रहने की अपेक्षा की जाती है।

गोलकनाथ निर्णय एवं उसके बाद की घटनाओं से सुब्बा राव की न केवल सम्पत्ति-समर्थक होने की छवि बनी बल्कि उन पर दक्षिणपंथी होने का भी आरोप लगा। यद्यपि सुब्बा राव की यह छवि उन्हें ठीक से नहीं समझे जाने का भी परिणाम हो सकती है।[32] लेकिन इसके बाद क्रमशः 1970 और 1971 में बैंक राष्ट्रीयकरण और प्रीवीपर्स की समाप्ति के ख़िलाफ़ सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय ने इस पर अमीरों का हिमायती होने का तमगा लगा दिया जो न्यायालय की छवि के लिए निहायत ही ख़तरनाक था।

बैंकों का राष्ट्रीयकरण पूरी तरह से सरकार की आर्थिक नीति से संबंधित एक निर्णय था, इसलिए सर्वोच्च न्यायालय द्वारा *रुस्तम कवासजी कूपर बनाम युनियन ऑफ़ इंडिया* के मामले में इसके ख़िलाफ़ निर्णय देना न केवल पीछे ले जानेवाला फ़ैसला था बल्कि सीधे तौर पर सरकार के नीतिगत निर्णय में हस्तक्षेप था।[33] इस मामले में न्यायालय के सामने दो विकल्प थे— पहला

---

[29] सज्जन सिंह वाद के निर्णय के लिए देखें, *सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य (1964)*. 1965 एआईआर 845, 1965 एससीसीआर 933.

[30] यहाँ न्यायालय ने न केवल इन तीन संशोधनों को असंवैधानिक बताया बल्कि यह भी व्यवस्था दी कि संविधान के अनुच्छेद 368 के अंतर्गत संसद को संविधान में संशोधन करने की कोई शक्ति नहीं है क्योंकि यह केवल संशोधन की प्रक्रिया को बताता है. न्यायालय ने व्यवस्था दी कि संसद को संविधान के अनुच्छेद 245, 246 एवं 248 के साथ सातवीं अनुसूची की प्रथम सूची में दिये गये 97 विषयों पर केवल क़ानून बनाने का अधिकार है. देखें, *आई.सी. गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य (1967)*. 1967 एआईआर 1643, 1967 एससीआर 762.

[31] एस.पी. साठे (2002) : 257.

[32] वस्तुत: गोलकनाथ वाद में न्यायालय का निर्णय एक प्रकार के 'भय' का भी परिणाम था. क़ानूनवेत्ताओं के बीच संसद द्वारा संविधान-संशोधन की शक्ति को लेकर कई तरह के सवाल उठने लगे थे. कई सेमिनार एवं गोष्ठियों में भी इस बात को लेकर चिंता देखी गयी कि आख़िर संसद के दो-तिहाई बहुमत को संविधान में संशोधन की कितनी शक्ति दी जा सकती है. क्या दो-तिहाई बहुमत को संविधान की रूपरेखा को पूरी तरह से बदल देने का अधिकार है? क्या इस तरह की असीमित शक्ति का प्रयोग कर कोई महत्त्वाकांक्षी शासक संविधान के अनुच्छेद 368 में ही संशोधन करके तानाशाही शासन की स्थापना नहीं कर सकता है? संविधान संशोधन को लेकर भारतीय संसद की शक्ति से संबंधित यह सवाल फरवरी, 1965 में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के विधि संकाय में जर्मनी के एक न्यायवेत्ता प्रोफ़ेसर डिट्रिक कॉनरेड ने अपने व्याख्यान के दौरान उठाया

विकल्प संवैधानिक व्याख्या को लेकर विशुद्ध शाब्दिक दृष्टिकोण अपनाने का हो सकता था और दूसरा विकल्प विस्तृत सामाजिक-आर्थिक संदर्भ में व्याख्या का था। लेकिन जैसा कि एस.पी. साठे का कहना है, बैंकों के राष्ट्रीयकरण के ख़िलाफ़ दिया गया न्यायालय का यह फ़ैसला इन दोनों में से किसी भी विकल्प के अनुकूल नहीं था क्योंकि यदि यह विशुद्ध शाब्दिक दृष्टिकोण को अपनाता तो उपयुक्त मुआवज़े का सवाल न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र में नहीं आता और यदि न्यायालय इसे अपने अधिकार-क्षेत्र में रखता तो फिर मुआवज़े की उपयुक्तता को विस्तृत सामाजिक-आर्थिक संदर्भ में देखा जाना चाहिए था।[34] एस. मोहन कुमारमंगलम के अनुसार न्यायालय का यह फ़ैसला न केवल 20 वर्षों के इतिहास में संसद द्वारा उठाये गये प्रगतिशील क़दमों के ख़िलाफ़ था बल्कि संविधान सभा में हुई बहसों के भी अनुकूल नहीं था। इस निर्णय को स्वीकार करने का मतलब न्यायालय को यह शक्ति दे देने के समान था कि वह वर्तमान संविधान के दायरे में समाजवादी अर्थव्यवस्था की स्थापना के सारे रास्ते बंद कर दे।[35]

इस तरह से यह निर्णय सीधे तौर पर सरकार की सामाजिक-आर्थिक नीति में हस्तक्षेप की तरह था। न्यायालय के इन निर्णयों के ख़िलाफ़ इंदिरा गाँधी ने जनता के बीच जाने का निर्णय किया और 1971 के चुनाव में पहली बार संविधान-संशोधन एक चुनावी मुद्दा बना। इस चुनाव में दो-तिहाई बहुमत से इंदिरा गाँधी की सफलता ने एक तरह से जनता की इच्छा को भी प्रकट कर दिया कि वे न्यायालय को एक तकनीकी न्यायालय के रूप में ही देखना चाहते हैं और 'नीति-निर्णय' के मामले में उसका हस्तक्षेप नहीं चाहते हैं।[36] इस तरह यहाँ सरकार के 'नीति-निर्णय' से संबंधित मामलों में न्यायालय की शक्ति पर अंकुश लगाने की भी ज़रूरत महसूस हुई। सत्ता में आने के साथ ही इंदिरा गाँधी ने 24वाँ संशोधन पारित करवा कर संसद की संविधान-संशोधन की शक्ति को फिर से स्थापित किया। इसके बाद सम्पत्ति के अधिकार को सीमित करने से संबंधित 25 वाँ एवं प्रीवीपर्स की समाप्ति के लिए 26वाँ संविधान-संशोधन पारित किया। संविधान के इन संशोधनों को एक बार फिर *केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य* के वाद में सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती मिली जिसके अंतर्गत संविधान के 'मौलिक ढाँचे' से संबंधित निर्णय सामने आया। यद्यपि 'मौलिक ढाँचे' के प्रावधान पर भी काफ़ी विवाद उत्पन्न हुआ लेकिन आगे चलकर आपातकाल के अनुभव के बाद *मिनर्वा मिल्स* के वाद में इस निर्णय को व्यापक रूप से स्वीकृति मिल गयी।[37]

इसके बाद उत्तर-आपातकाल में न्यायालय ने काफ़ी सक्रिय रुख अपनाया तथा न्याय को क़ानूनी

---

था. बाद में इन्हीं सवालों को क़ानूनविद एम.के. नाम्बियार ने बार में उठाया. नेहरू की मृत्यु के बाद यह बहस और भी तीव्र हो गयी क्योंकि इसके बाद राजनीति में दूसरी पीढ़ी के नेताओं का प्रभाव बढ़ा जो कि पेशेवर क़िस्म के नेता थे. ऐसे में संसद की इस शक्ति पर कहीं न कहीं विराम लगाने की भी आवश्यकता महसूस हो रही थी. देखें, एस.पी. साठे (1970क), 'ऐन इंटरव्यू विद सुब्बा रॉव', *जर्नल ऑफ़ कांस्टीट्यूशनल ऐंड पार्लियामेंट्री स्टडीज़,* खण्ड 4, जनवरी-मार्च : 99; (2002) : 257; इन पहलुओं के बारे में विस्तार से जानकारी के लिए देखें, ए. जी. नूरानी (2001), 'बिहाइंड द ''बेसिक स्ट्रक्चर'' डॉक्ट्रिन : ऑन इंडियाज़ डेट टु जर्मन जुरिस्ट प्रोफ़ेसर डिट्रिक कॉनरेड', *फ्रंटलाइन,* खण्ड 18, अंक 9; उपेंद्र बख़्शी (1997 ख), 'अ पिलग्रिम्स प्रोग्रेस : द बेसिक स्ट्रक्चर रिविज़िटिड', *इंडियन बार रिव्यू,* खण्ड 24, अंक 1 और 2 : 58-59;

[33] *रुस्तम क़वासजी कूपर बनाम युनियन ऑफ़ इंडिया (1970).* 1970 एआईआर 564 (1970), 1 एससीसी 248.

[34] एस.पी. साठे (1970ख), 'राइट टु प्राइवेट प्रॉपर्टी : सम इशूज़', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड *5,* अंक 18 : 744.

[35] एस. मोहन कुमारमंगलम (1970), 'स्लाइड-बैक ऑन कम्पेंसेशन : बैंक नेशनलाइज़ेशन जजमेंट', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 5, अंक 8.

[36] एस.पी. साठे (2002) : 258.

[37] वस्तुत : 'मौलिक ढाँचे' का निर्णय देकर न्यायालय ने एक तरफ़ जहाँ संसद की सर्वोपरिता को स्वीकार किया, वहीं दूसरी तरफ़ इसकी असीमित शक्ति के ऊपर एक नियंत्रण भी लगाया. ऐसा करके न्यायालय ने संसद एवं न्यायालय के बीच चल रहे टकराव को एक आदर्श लक्ष्य तक पहुँचाकर अंतिम स्वरूप प्रदान किया.

जामे से निकालकर एक सामाजिक एवं आर्थिक अर्थ भी प्रदान किया। काला अक्षर क़ानून परम्परा से अलग हटकर इसने संविधान एवं क़ानून की व्याख्या विस्तृत सामाजिक-आर्थिक संदर्भ में करनी शुरू की। इस समय सरकार बचाव की मुद्रा में दिखायी दे रही थी लेकिन वह न्यायालय पर कोई दोषारोपण भी नहीं कर सकती थी। इसकी वजह यह थी कि न्यायालय सरकार को केवल वही बातें करने के लिए निर्देश दे रही थी जिसे उसने विभिन्न विधानों के द्वारा पूरा करने का वायदा किया था।[38] इस सक्रियता के दौर में न्यायालय ने संविधान की व्याख्या विस्तृत संदर्भ में करते हुए कई नये क़ानूनों की भी रचना कर दी जो पूरी तरह से विधायिका का कार्य था। उदाहरण के लिए श्रम क़ानूनों से संबंधित अनेक प्रावधान, शिक्षा के अधिकार की व्यवस्था, सूचना का अधिकार आदि के क़ानून के रूप में सामने आने से पहले न्यायिक-व्याख्याओं द्वारा ही अस्तित्व में आये। इतना ही नहीं, यद्यपि न्यायालय ने सरकार के किसी 'नीति-निर्णय' को ख़ारिज तो नहीं किया लेकिन 'नीति-निर्णयों' में हस्तक्षेप करने से कोई परहेज़ भी नहीं किया।[39] न्यायालय की इस भूमिका का न केवल स्वागत किया गया बल्कि इसने इसे एक वैधता भी दिलायी।

उपरोक्त उदाहरणों से दो बातें साफ़ तौर पर निकल कर सामने आती हैं। पहली तो यह कि न्यायालय सरकार के 'नीति-निर्णयों' में पहले भी हस्तक्षेप करती रही है। दूसरी यह कि, न्यायालय द्वारा 'नीतिगत निर्णयों' में हस्तक्षेप करने की आलोचना भी होती रही है। तो सवाल यह है कि क्या न्यायालय को सरकार के 'नीतिगत मामलों' में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए? क्या इसे अपने आरम्भिक दिनों की तरह ही विशुद्ध अंग्रेज़ी प्रत्यक्षवादी परम्परा का पालन करते हुए महज़ एक तकनीकी न्यायालय की भाँति संविधान और क़ानून की अक्षरश: व्याख्या के साथ बँध जाना चाहिए? यहाँ भी दो बातों पर ध्यान देने की ज़रूरत है। पहली तो यह कि अंग्रेज़ी प्रत्यक्षवादी परम्परा की अपनी सीमाएँ हैं। इसमें न्यायाधीशों से विचारधारा, राजनीति एवं मूल्यों से स्वतंत्र होकर संविधान और संसद द्वारा बनाये गये क़ानूनों की अक्षरश: व्याख्या पर बल दिया जाता है। लेकिन इस प्रकार का दृष्टिकोण तभी उपयुक्त हो सकता है जब क़ानून और संविधान भी पूरी तरह से पक्षपात रहित और वैचारिक मूल्यों से स्वतंत्र हो जायें। लेकिन क़ानून का भी एक समाजशास्त्र होता है और इसके साथ एक विचारधारा और मूल्य जुड़े हुए होते हैं। अत: जब क़ानून स्वयं मूल्यनिरपेक्ष नहीं होता है तो ऐसे में न्यायालय से मूल्यनिरपेक्ष होकर निर्णय देने की अपेक्षा कैसे की जा सकती है? दूसरी समस्या यह है कि यदि हम अंग्रेज़ी प्रत्यक्षवादी परम्परा को स्वीकार करेंगे तो उत्तर-आपातकाल में भारतीय न्यायपालिका के उन निर्णयों की व्याख्या नहीं कर पाएँगे जिनके द्वारा न्यायालय ने नॉन-जस्टिसिएबल सामाजिक अधिकारों को मौलिक अधिकारों के रूप में परिवर्तित कर दिया।

लेकिन क्या इसका यह तात्पर्य है कि न्यायालय को सरकार के किसी भी 'नीति-निर्णय' में हस्तक्षेप करने की आज़ादी होनी चाहिए? क्या आपातकाल से पूर्व सम्पत्ति के अधिकार को लेकर न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णयों की आलोचना इसकी शक्तियों पर अंकुश लगाने की माँग नहीं करती है? फिर न्यायालय को किन मामलों में स्वनियंत्रण अपनाने की ज़रूरत है?

---

[38] एस.पी. साठे (2002) : 263.

[39] उदाहरण के लिए आरक्षण की नीति को लेकर *इंद्र सॉहनी* के वाद में न्यायालय के निर्णय का उल्लेख किया जा सकता है. इसमें आरक्षण की सीमा 50 प्रतिशत तक निर्धारित की गयी थी. इसके अलावा, इसमें अन्य पिछड़े वर्ग (ओबीसी) के मलाईदार तबक़े को इस आरक्षण की सुविधा से अलग रखने का निर्देश दिया गया था. इस निर्णय के लिए देखें, *इंद्र सॉहनी बनाम युनियन ऑफ़ इंडिया एवं अन्य (1999)*. 2000 एआईआर 498 (2000) 1 एससीसी 168; विकास की नीति के संदर्भ में भी उदारीकरण के आरम्भिक वर्षों के दौरान समता बनाम आंध्र-प्रदेश राज्य के वाद में सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय काफ़ी महत्त्वपूर्ण है.

वस्तुतः भारत में स्वनियंत्रण की नीति एक अलग ही रूप में विकसित हुई है। जब हम संयुक्त राज्य अमेरिका की न्यायिक व्यवस्था पर ग़ौर करते हैं तो एक अलग ही ऐतिहासिक संदर्भ दिखायी देता है। फ्रेंकलिन डी. रूज़वेल्ट के शासनकाल में आर्थिक समस्याओं से निपटने के लिए न्यू डील सुधार-कार्यक्रम सामने आया जिसके कई प्रावधानों को अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय ने निरस्त कर दिया। इसके बाद जब रूज़वेल्ट 1936 में दूसरी बार सत्ता में आये तो न्यू डील लॉ को लेकर न्यायालय की भूमिका को सीमित करने के लिए *जुडिशियल प्रोसिज़र्स रिफ़ॉर्म बिल ऑफ़ 1937* की घोषणा की जिसे 'कोर्ट पैकिंग प्लान' के नाम से भी जाना जाता है। इस योजना के अंतर्गत 70 साल से अधिक उम्र के हर न्यायाधीश के एवज़ में एक न्यायाधीश और अधिकतम 6 न्यायाधीशों को नियुक्त करने का प्रावधान था। इस तरह से नये न्यायाधीशों की नियुक्ति के बाद रूज़वेल्ट सरकार न्यायालय से अपने पक्ष में किसी भी नीति को पास करवा सकती थी। यद्यपि रूज़वेल्ट का यह प्लान सफल तो नहीं हो पाया लेकिन इसके बाद सर्वोच्च न्यायालय की नीति में व्यापक बदलाव आया। न्यायालय ने न्यूडील के कई प्रावधानों को सरकार की आर्थिक नीति एवं नीति-निर्णय बताकर स्वनियंत्रण अपनाने की बात की।[40] इस प्रकार संयुक्त राज्य में स्वनियंत्रण की नीति मुख्य रूप से उन आर्थिक नीतियों के संदर्भ में विकसित हुई जो ग़रीबों एवं शोषितों के हितों से जुड़ी हुई थीं। उपेन्द्र बख़्शी के अनुसार न्यूडील सुधार को लेकर अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय के दृष्टिकोण तथा राष्ट्रपति रूज़वेल्ट के कोर्ट पैकिंग प्लान के प्रभाव के बारे में हम सबको पता है, लेकिन हम हमेशा इस बात को याद नहीं करते हैं कि संयुक्त राज्य में आर्थिक नीति के मामले में न्यायिक स्वनियंत्रण की संस्कृति का विकास मुख्य रूप से समाज के दीन-हीन लोगों के अधिकारों की सुरक्षा एवं प्रोत्साहन के लिए सामने आया था।[41]

भारतीय न्यायिक व्यवस्था के संदर्भ में भी यदि हम देखें तो आपातकाल से पूर्व न्यायालय की जो आलोचनाएँ हो रही थीं, वह इसलिए नहीं कि न्यायालय सरकार की आर्थिक नीतियों में हस्तक्षेप कर रहा था, बल्कि इसलिए हो रही थीं कि न्यायालय सरकार को उन नीतियों को क्रियान्वित करने से रोक रहा था जिसका फ़ायदा सीधे तौर पर ग़रीब एवं वंचित तबक़े को होने वाला था। सरकार अपने प्रगतिशील समाजवादी कार्यक्रमों को लागू कर ग़रीबों के हित में कार्य कर रही थी और न्यायालय उन नीतियों में हस्तक्षेप कर अमीर और सम्पत्तिशाली तबक़ों के हितों को संरक्षण प्रदान कर रहा था। इसी वजह से यहाँ इस तरह के तर्क सामने आये कि न्यायालय को सरकार के 'नीति-निर्णय' में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

इसलिए यहाँ न्यायालय से उन नीतियों के प्रति स्वनियंत्रण अपनाने की अपेक्षा की जाती है (या की जानी चाहिए) जो नीतियाँ शोषित, ग़रीब एवं कमज़ोर तबक़ों के हितों के लिए बनायी जाती हैं। लेकिन भारतीय न्यायपालिका में न्यायिक स्वनियंत्रण अपनाने की परम्परा इसके ठीक विपरीत संदर्भ में विकसित हुई। यहाँ न्यायालय यह भी देखने की कोशिश नहीं करता है कि जिन 'वैकासिक' योजनाओं और आर्थिक नीतियों को सरकार का 'नीतिगत निर्णय' बताकर वह न्यायिक स्वनियंत्रण की नीति का पालन कर रही है, उससे किसे सबसे ज़्यादा फ़ायदा हो रहा है और किनके हित सबसे ज़्यादा प्रभावित हो रहे हैं। क्या इस तरह की नीति के प्रति स्वनियंत्रण अपना कर न्यायालय कॉरपोरेट और सम्पत्तिशाली वर्गों की हिमायत नहीं कर रहा है? साथ ही यह भी एक महत्त्वपूर्ण सवाल है कि क्या सरकार की 'वैकासिक' योजनाओं और आर्थिक कार्यक्रमों में हस्तक्षेप का मतलब किसी नीति को ख़ारिज कर देना है?

---

[40] थॉमस एम. केक (2004), *द मोस्ट एक्टिविस्ट कोर्ट इन हिस्ट्री : द रोड टू मॉडर्न जुडिशियल कंज़रवेटिज़्म*, युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो एवं लंदन : 17-66; लूकाज़ ए. पॉ (जूनियर) (2009), *द सुप्रीम कोर्ट ऐंड द अमेरिकन इलीट, 1789-2008*, हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज एवं लंदन : 213-47.

[41] उपेंद्र बख़्शी (1997क) : 354.

वस्तुतः यहाँ हमें 'नीति-निर्णय' को भी समझने की ज़रूरत है। यद्यपि सरकार का प्रत्येक क्रियाकलाप उसकी किसी न किसी नीति से जुड़ा होता है, इसलिए किन नीतियों को सरकार का 'नीतिगत निर्णय' कहा जाए और किन मामलों में न्यायालय को संयम बरतना चाहिए, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। यहाँ रोनाल्ड ड्वार्किन के विचारों पर ग़ौर कर सकते हैं जो नीति और सिद्धांत के बीच अंतर करते हैं। ड्वोर्किन ने नीति (पॉलिसी) का संबंध जहाँ विधायिका से बताया है, वहीं सिद्धांत (प्रिंसिपल) को न्यायपालिका से संबंधित बताया है। उनके अनुसार न्यायिक पुनर्विलोकन का संबंध संविधानवाद के सिद्धांत और लोगों के मूलभूत अधिकारों को बनाये रखने से है, जबकि विधायिका का संबंध नीति के साथ है। 'नीति' से ड्वोर्किन का तात्पर्य उन मानदंडों से है जो किसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए बनाये जाते हैं। उनके अनुसार इसका संबंध मुख्य रूप से समुदाय की आर्थिक, राजनीतिक या सामाजिक रूपरेखा को बेहतर बनाने से है। जबकि 'सिद्धांत' का तात्पर्य उन मानदंडों से है जिन पर इसलिए ध्यान देने की ज़रूरत नहीं है कि इनसे एक ख़ास आर्थिक, राजनैतिक या सामाजिक स्थिति को प्राप्त किया जा सकता है बल्कि इसलिए है क्योंकि न्याय या निष्पक्षता अथवा नैतिकता के किसी अन्य पहलू के लिए यह एक अनिवार्यता है। इस प्रकार यह मानदंड या आदर्श कि मोटर दुर्घटना कम होनी चाहिए, एक नीति है और यह मानदंड कि कोई भी आदमी अपने ग़लत तरीक़ों के द्वारा फ़ायदा न उठा ले, एक सिद्धांत है।[42] नीति के साथ जहाँ पूरे समुदाय के सामूहिक लक्ष्य की उन्नति और संरक्षण से संबंधित राजनीतिक निर्णय जुड़ा होता है, वहीं सिद्धांत का संबंध उस राजनैतिक निर्णय से है जो कुछ व्यक्तिगत या सामूहिक अधिकारों की गारंटी देता है। ड्वोर्किन के अनुसार नीति-निर्णय का निर्माण कुछ ख़ास राजनीतिक प्रक्रियाओं के द्वारा ही होना चाहिए जो विभिन्न हितों को बिल्कुल सही-सही अभिव्यक्त कर सकें। हो सकता है कि प्रतिनिधि लोकतंत्र की राजनैतिक व्यवस्था इस संदर्भ में जैसे-तैसे ही काम करती हो, लेकिन यह अनिर्वाचित न्यायाधीशों की उस व्यवस्था से कहीं बेहतर काम करती है जिनके पास न तो मेल-बैग होता है और न ही लॉबिस्ट या दबाव-समूह ही होते हैं कि वे अपने चैम्बरों में प्रतियोगी हितों के बीच समझौता कर सकें।[43] नीति और सिद्धांत के संदर्भ में अंतर करते हुए ड्वोर्किन उदाहरण देते हैं कि हवाई जहाज के निर्माण पर इस आधार पर सब्सिडी देने की दलील कि यह राष्ट्रीय रक्षा (डिफेंस) में उपयोगी होगा, एक नीति से संबंधित दलील को दर्शाती है, जबकि भेदभाव-विरोधी किसी विधान के समर्थन में दी गयी दलील कि अल्पसंख्यकों को समान आदर एवं सम्मान का अधिकार है, एक सैद्धांतिक दलील है। यहाँ ड्वोर्किन न्यायिक निर्णय को सैद्धांतिक आधार पर कसते हुए दलील रखते हैं कि वे न्यायिक निर्णय जो किसी वैध विधान के प्रावधानों को प्रवर्तित करने के संदर्भ में सामने आते हैं, वे भी सैद्धांतिक आधार पर ही सही होते हैं चाहे संबंधित विधान का स्रोत नीति ही क्यों न हो। उदाहरण के लिए यदि कोई हवाई जहाज निर्माता विधान में बतायी गयी सब्सिडी को प्राप्त करने के लिए मुक़दमा (याचिका) दायर करता है तो यहाँ वह सब्सिडी के अधिकार को लेकर अपनी दलील रखता है। वह यह दलील नहीं रखता है कि उसे सब्सिडी देने से राष्ट्रीय रक्षा की स्थिति सुदृढ़ हो जाएगी। वह उस नीति से संबंधित उन बातों को छिपा भी सकता है कि जिस समय यह नीति बनी थी वह सही बनी थी या ग़लत। इसलिए सब्सिडी का उसका अधिकार नीतिगत दलीलों पर आधारित नहीं रह जाता है क्योंकि संबंधित विधान उसे सिद्धांत का मसला बना देता है।[44] क्या इस दृष्टिकोण से भारत में अपनायी गयी उदारीकरण की नीति के बाद आर्थिक नीति से संबंधित विधान महज़ 'नीति-निर्णय' का मसला रह जाता है?

---

[42] रोनॉल्ड ड्वोर्किन, (1977), *टेकिंग राइट सीरियसली,* युनिवर्सल, नयी दिल्ली (5वाँ संस्करण 2010) : 22.

[43] वही : 82-85.

[44] वही : 82-83.

एस.पी. साठे ड्वोर्किन की संकल्पना को भारतीय संदर्भ में रखते हुए बताते हैं कि न्यायालय को नीति के मामले में तब तक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए जब तक कि इससे मौलिक अधिकारों या संविधान के मौलिक ढाँचे को कोई ख़तरा न हो। साठे यहाँ उदाहरण देते हुए बताते हैं कि न्यायालय ने कभी भी बजट में अपनायी गयी नीति में हस्तक्षेप नहीं किया है। न्यायालय ने कभी भी यह सवाल नहीं उठाया है कि आयकर देने के लिए न्यूनतम आय की सीमा क्या होनी चाहिए, कौन से उत्पाद पर उत्पाद-कर लगाना चाहिए और किन वस्तुओं को इससे छूट मिलनी चाहिए या कर के निर्धारण की दर क्या होनी चाहिए। लेकिन यदि विधायिका कर का आरोपण भेद-भावपूर्ण तरीक़े से करती है, तो इसे न्यायालय इसलिए निरस्त नहीं कर देगा कि वह विधायिका की नीति को ख़ारिज़ कर रहा है बल्कि वह इसे इसलिए निरस्त करेगा क्योंकि यह संविधान के अंतर्गत दिये गये समानता के अधिकार का उल्लंघन करती है। आरक्षण के मामले को ही लें तो आरक्षण कितना दिया जाए और किसको दिया जाए, एक नीति से संबंधित मामला है। लेकिन यदि इसकी सीमा का निर्धारण इस बात पर ध्यान दिये बिना कर दिया जाता है कि इसका समानता के अधिकार पर क्या प्रभाव पड़ेगा तो यहाँ न्यायालय इसलिए हस्तक्षेप नहीं करेगा कि यह एक नीति का मामला है बल्कि इसलिए करेगा क्योंकि इस प्रकार की नीति समानता के अधिकार का उल्लंघन करती है। इसी तरह से, आरक्षण किसको दिया जाए के सवाल को यदि केवल जाति के आधार पर निर्धारित किया जाता है तो न्यायालय इसमें इसलिए हस्तक्षेप नहीं करेगा कि वह नीति के ख़िलाफ़ है बल्कि वह इसलिए करेगा कि यह इस संवैधानिक अधिकार का उल्लंघन करती है कि जाति के आधार पर किसी के साथ भेद-भाव नहीं किया जाएगा। इन तर्कों के साथ एस.पी. साठे दलील देते हैं कि नीति में कोई बदलाव होने पर न्यायालय को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। लेकिन यदि संविधान के मौलिक ढाँचे में कोई बदलाव होता है तो न्यायालय को ज़रूर हस्तक्षेप करना चाहिए।[45]

स्पष्ट है कि न्यायालय को किसी मामले में केवल इसलिए हस्तक्षेप करने की मनाही नहीं होनी चाहिए कि वह मामला किसी 'नीति-निर्णय' से संबंधित है। अत: ऐसे में विस्थापन और पुनर्वास की समस्या, श्रमिकों की छँटनी, श्रमिक अधिकारों का व्यापक स्तर पर उल्लंघन, आदिवासियों के मूलभूत अधिकारों का उल्लंघन, आदि से संबंधित मामले सामने आने के बाद भी यदि न्यायालय संबंधित मामलों को सरकार की 'विकास की नीति' और 'आर्थिक नीति' बताकर हस्तक्षेप करने से मना कर देता है और न्यायिक स्वनियंत्रण का पालन करता है तो यह उसकी न्याय-क्षमता पर सवाल खड़ा करता है।

## सलवा जुडूम का फ़ैसला : कुछ नवीन सम्भावनाएँ

इस लिहाज़ से 5 जुलाई, 2011 को *नंदिनी सुंदर* वाद में देश के अंतिम न्यायालय द्वारा सुनाया गया फ़ैसला अपने आप में काफ़ी अहम हो जाता है तथा इस निर्णय में न्यायालय द्वारा प्रस्तुत की गयी सरकारी आर्थिक नीतियों की आलोचना के विरोध में उठने वाला स्वर अपने आप में कई सवाल उत्पन्न कर देता है। इस निर्णय के अंतर्गत अमित भादुड़ी, जोसेफ़ ई. स्टीग्लीट्ज़, अजय के. मेहरा जैसे कई सारे समाजशास्त्रियों एवं अर्थशास्त्रियों के विचारों की चर्चा की गयी है तथा साथ ही सरकार द्वारा ठंडे बस्ते में डाल दी गयी योजना आयोग की विशेषज्ञ समिति द्वारा 2008 में प्रस्तुत रिपोर्ट *डेवलपमेंट चैलेंजेज़ इन एक्ट्रीमिस्ट अफेक्टेड एरियाज़* का भी उल्लेख किया गया है। इस निर्णय के अंतर्गत विशेष पुलिस अधिकारियों (एसपीओ) की नियुक्ति को असंवैधानिक बताते हुए न्यायालय ने कहा—

---

[45] एस.पी. साठे (2002) : 83-84.

'...दरअसल, समस्या की जड़ राज्य द्वारा अपनायी गयी अनैतिक राजनैतिक अर्थव्यवस्था और इसके कारण उत्पन्न हुई क्रांतिकारी राजनीति में निहित है...'[46]

'दरअसल, समस्या का बुनियादी कारण कहीं और है। इस कारण पर विचार करके ही इस समस्या को हल किया जा सकता है। आधुनिक नव-उदारवादी आर्थिक विचारधारा ने असीमित स्वार्थ और लालच की संस्कृति को बढ़ावा दिया है। इसमें यह झूठा वायदा भी किया जाता है कि उपभोग में लगातार बढ़ोतरी होने से आर्थिक संवृद्धि होती है जिससे हर किसी की स्थिति बेहतर बनती है...'[47]

'राज्य ने सीधे तौर पर संवैधानिक मानकों और मूल्यों का उल्लंघन करके पूँजीवाद के लुटेरे रूपों को समर्थन और बढ़ावा दिया है। आम तौर इस तरह के पूँजीवाद ने खनन पर आधारित कारखानों के आस-पास अपनी गहरी जड़ें जमा ली हैं। हम यह पाते हैं कि भारत के संसाधन-सम्पन्न क्षेत्रों में, अतीत और वर्तमान दोनों में ही, सामाजिक अशांति उत्पन्न करने वाली बहुत सारी घटनाएँ होती रही हैं। दरअसल, ये वही इलाक़े हैं जहाँ मानव-विकास का स्तर बहुत नीचे है। इससे यह पता चलता है कि यह तर्क बहुत ही खोखला है कि इस तरह का विकास प्रतिमान आवश्यक है और इसके नतीजे अपरिहार्य हैं...'[48]

**'नीतिगत निर्णयों' हस्तक्षेप को लेकर की गयी सलवा जुडूम निर्णय की आलोचना सही नहीं है। फिर भी, इस निर्णय की दूसरी भी कुछ आलोचनाएँ हैं जिन पर ध्यान देने की ज़रूरत है। बेला भाटिया के अनुसार इस निर्णय में दो पहलू सबसे महत्त्वपूर्ण हैं— पहला सलवा जुडूम पर प्रतिबंध और दूसरा इस लड़ाई में एसपीओ के प्रयोग पर रोक लगाते हुए एसपीओ से हथियार वापस लेने का आदेश।**

'निजी क्षेत्र द्वारा संसाधनों का तेज़ी से दोहन किया जा रहा है। इस तरह के दोहन में लागतों और फ़ायदों के समान वितरण की कोई विश्वसनीय वचनबद्धता नहीं होती है। इसके अलावा, इसमें पर्यावरणीय सस्टेनेबिलिटी पर भी ध्यान नहीं दिया जाता है। निश्चित तौर पर, ये नीतियाँ उन सिद्धांतों का उल्लंघन करती हैं जिन्हें 'गवर्नेंस की बुनियाद' माना जाता है। जब बहुत बड़े पैमाने पर इस तरह का उल्लंघन होता है, तो यह अनुच्छेद 14 द्वारा प्रदत्त क़ानून के समक्ष समानता एवं

---

[46] नंदिनी सुंदर एवं अन्य बनाम छत्तीसगढ़ राज्य (2011) : पैराग्राफ 5.

[47] वही : पैराग्राफ 9.

[48] वही : पैराग्राफ 12.

**जिस समय न्यायालय का यह निर्णय आया उस समय तक तो सलवा जुडूम और एसपीओ का प्रभाव काफ़ी कम हो चुका था एवं कुछ छिट-पुट घटनाओं को छोड़ दें तो ये महज़ एक अतीत बनकर रह गयी थी तथा इसकी जगह पर इससे भी कहीं ज़्यादा ख़तरनाक एवं घातक 'ऑपरेशन ग्रीनहंट' जैसी रणनीति सामाने आ गयी थी। लेकिन यह आश्चर्य ही है कि न्यायालय के निर्णय में 'ऑपरेशन ग्रीनहंट' की चर्चा तक नहीं है।**

क़ानून के समान संरक्षण और अनुच्छेद 21 के द्वारा सुनिश्चित की गयी जीवन की गरिमा के प्रावधानों का उल्लंघन करता है...'[49]

योजना आयोग के विशेषज्ञ समूह की रिपोर्ट का उल्लेख करते हुए न्यायालय ने कहा—

'...भारतीय राज्य समस्या को वास्तविक सामाजिक-आर्थिक हालात के संदर्भ में नहीं देख रहा है। वह यह भी महसूस नहीं कर रहा है कि उसने जिस झूठे विकास प्रतिमान को बढ़ावा दिया है, उसका कोई मानवीय चेहरा नहीं है। लोगों के मन में गहरे तक यह भावना बिठा दी है कि वे असहाय हैं। इसके बजाय, सत्ता में बैठे लोगों द्वारा लगातार इस बात का प्रचार किया जा रहा है कि किसी तरह ज़्यादा-से-ज़्यादा आर्थिक संवृद्धि प्राप्त करना ही एकमात्र रास्ता है। इस मॉडल के कारण ग़रीब और वंचित लोगों को बहुत ज़्यादा बोझ और दुख का सामना करना पड़ रहा है। लेकिन सत्ता में बैठे लोग यह दलील दे रहे हैं कि विकास के इस प्रतिमान में इस स्थिति से बचा नहीं जा सकता है...'[50]

'...अब हमारे नीति-निर्माता संवैधानिक विवेक और मूल्यों से भी तेज़ी से मुँह फेरने लगे हैं। सरकारी कार्रवाइयों से इस तरह के ख़तरनाक संकेत मिलते हैं। एक ओर राज्य निजी क्षेत्र को टैक्स छूट के रूप में लगातार सब्सिडी दे रहा है, वहीं यह भी कह रहा है कि उसके पास इतना राजस्व नहीं है कि वह सामाजिक कल्याण कार्यक्रमों द्वारा ग़रीबों की मदद करने के अपने दायित्वों को पूरा कर सके। दूसरी ओर, राज्य ग़रीबों के असंतोष और ग़ुस्से का दमन करने के लिए ग़रीब युवकों का ही सहारा ले रहा है और उन्हें बंदूक़ थमा रहा है'[51]

इस प्रकार *नंदिनी सुंदर वाद* में न्यायालय ने सरकार द्वारा अपनायी गयी विकास की नीति की विस्तृत आलोचना प्रस्तुत की तथा नवीन आर्थिक नीतियों द्वारा दिखाये जा रहे सब्ज़बाग़ पर कई तरह के सवाल उठाये और ऐसा करके न्यायालय ने सरकार की आर्थिक-नीति से संबंधित मामलों में हस्तक्षेप नहीं करने की परिपाटी भी तोड़ी। लेकिन इसकी वजह से न्यायालय के इस निर्णय की काफ़ी

---

[49] वही : पैराग्राफ़ 13.

[50] वही : पैराग्राफ़ 14.

[51] वही : पैराग्राफ़ 15.

आलोचनाएँ भी हुईं। ऐसा कहा जा रहा है कि इस निर्णय के अंतर्गत न्यायालय ने पूर्व में सुनाये गये अपने ही कई दूसरे निर्णयों की अनदेखी की है। भारतीय जनता पार्टी के नेता एवं अधिवक्ता रविशंकर प्रसाद इस फ़ैसले के अंतर्गत उदारीकरण एवं 'विकास' की नीति की आलोचना पर सवाल उठाते हुए कहते हैं कि नियंत्रित अर्थव्यवस्था के कटु अनुभव ने राज्य पर यह दबाव डाला कि वह इससे अलग कई नवीन आर्थिक नीतियों को अपनाये तथा न्यायालय ने भी राज्य द्वारा उठाये गये इन क़दमों को संवैधानिक रूप से वैध बताया था। न्यायालय ने इस स्थापित संवैधानिक सिद्धांत का भी समर्थन किया है कि नीतियों का कार्यकरण एवं क्रियान्वयन पूरी तरह से कार्यपालिका का काम है।[52] इसके अलावा पिछले कुछ दिनों से भ्रष्टाचार, राज्य एवं माओवादी हिंसा, काला धन, भूमि अधिग्रहण आदि हर तरह की समस्याओं को लेकर उदारीकरण की नीति पर सवाल करने को लेकर भी न्यायालय की आलोचना हुई है।[53] न्यायिक निर्णय की इसी तरह की आलोचनाओं को आधार बनाते हुए केन्द्र सरकार की तरफ़ से सर्वोच्च न्यायालय में निर्णय के ख़िलाफ़ पुनर्विचार याचिका भी दायर की गयी जिस पर सुनवाई करते हुए नवम्बर, 2011 में सर्वोच्च न्यायालय ने इस फ़ैसले को केवल छत्तीसगढ़ राज्य तक सीमित कर दिया।

वस्तुत: नंदिनी सुंदर वाद के अलावा भी पिछले दिनों कई ऐसे मामले आये हैं जिनमें सर्वोच्च न्यायालय ने काफ़ी सक्रिय रुख अख़्तियार किया है। उदाहरण के लिए चाहे काले धन का मुद्दा हो या भूमि-अधिग्रहण से संबंधित प्रश्न, न्यायालय ने काफ़ी प्रभावी निर्णय दिये हैं। न्यायालय के इन निर्णयों के ख़िलाफ़ एक घिसी-पिटी दलील दी जा रही है कि न्यायालय कोई निर्वाचित संस्था नहीं है, इसलिए इसे निर्वाचित सरकार द्वारा अपनायी गयी नीतियों पर सवाल करने का कोई अधिकार नहीं होना चाहिए तथा ऐसा करके न्यायालय शक्ति के पृथक्करण के सिद्धांत का उल्लघंन कर रहा है। इस दलील के साथ न्यायालय को स्वघोषित 'विकास' से संबंधित आर्थिक नीतियों के मामले में स्वनियंत्रण अपनाने की सलाह दी जा रही है।

लेकिन क्या यह कहना सही है कि इस निर्णय के अंतर्गत न्यायालय ने अपनी सीमाओं का अतिक्रमण किया है? क्या यह कहना सही है कि न्यायालय ने इस निर्णय के अंतर्गत न्यायिक स्वनियंत्रण के सिद्धांत पर विचार नहीं किया? लेकिन जब हम इस निर्णय का अध्ययन करते हैं तो न्यायिक सीमा रेखा को लेकर भी न्यायालय काफ़ी सतर्क दिखायी देता है। न्यायिक सीमा रेखा के उल्लंघन के सवाल पर विचार करते हुए न्यायालय ने कहा कि—

> 'जब न्यायपालिका आतंकवाद और चरमपंथ का मुक़ाबला करने वाली नीतियों पर सवाल उठाती है, तो उसका मक़सद यह नहीं होता है कि वह सुरक्षा चिंताओं में दख़ल दे। हम यह जानते हैं कि इसके लिए कार्यपालिका के पास विशेषज्ञता और ज़िम्मेदारी है; और कार्यपालिका विधायिका से निर्देशित और नियंत्रित होती है। न्यायपालिका इस तरह के मसलों में संवैधानिक लक्ष्यों और मूल्यों की सुरक्षा के लिए हस्तक्षेप करती है। वह चाहती है कि समानता और जीवन के अधिकार जैसे मूल अधिकारों की सुरक्षा हो। सच्चाई यह है कि न्यायपालिका के पास इस तरह हस्तक्षेप करने की विशेषज्ञता और ज़िम्मेदारी है।'[54]

---

[52] देखें, रविशंकर प्रसाद (2011), 'सेक्युरिटी मस्ट बी सुप्रीम इन छत्तीसगढ़', *द इंडियन एक्सप्रेस,* नयी दिल्ली, 1 अगस्त.

[53] देखें, शेखर गुप्ता (2011), 'द सुप्रीम कोर्ट', *द इंडियन एक्सप्रेस,* नयी दिल्ली, 9 जुलाई.

न्यायालय ने वर्ष 2011 में ही *जी.वी. के. इंडस्ट्रीज बनाम आईटीओ* मामले में दिये गये अपने फ़ैसले में निम्न पंक्तियों का उल्लेख किया—

> '...संविधानवाद का बुनियादी तत्त्व यह भी है कि राज्य का कोई भी अंग संविधान द्वारा तय की गयी सीमा से ज़्यादा शक्ति का दावा नहीं कर सकता है। न्यायालय का यह कर्त्तव्य है कि वह उस्तरे की धार पर चले। यानी सरकार की दूसरी सहायक शाखाओं पर विचार करते वक़्त न्यायिक संयम आवश्यक है; लेकिन इसका यह भी मतलब नहीं होना चाहिए कि वह उस्तरे की धार पर चलने के अपने संवैधानिक दायित्व को बिल्कुल ही त्याग दे।'[55]

इस तर्क के साथ न्यायालय ने विचार दिया कि—

> 'जब हमने वर्तमान मसले पर सुनवाई की तो हम इस बात के प्रति बहुत जागरूक थे कि हमें उस्तरे की धार पर चलने की ज़रूरत है। हम तथ्यों और संवैधानिक मूल्यों का अनुसरण करके निष्कर्ष तक पहुँचे हैं। संविधान का बुनियादी मूल्य यह है कि राज्य के सभी अंगों का यह दायित्व है कि वे संवैधानिक ज़िम्मेदारी के दायरे में रहकर अपना काम करें। यही क़ानून के शासन का सार-तत्व है'[56]

इन बातों को देखने के बाद यह कहना उपयुक्त नहीं होगा कि शक्ति के पृथक्करण और न्यायिक सीमा रेखा के उल्लंघन से संबंधित सवालों को लेकर न्यायालय गम्भीर नहीं है। बल्कि यहाँ इस निर्णय के आलोचकों के तर्कों के ऊपर भी कुछ सवाल उठते हैं जो प्रतिनिधि लोकतंत्र और शक्ति के पृथक्करण की दुहाई देते हुए इस निर्णय की आलोचना कर रहे हैं। सवाल यह है कि जिस निर्वाचित सरकार की दुहाई दी जा रही है, उसके प्रतिनिधियों को कितनी वैधता प्राप्त है? चुनाव के समय लोगों के सामने कितने विकल्प होते हैं? दूसरी तरफ़, यदि निर्वाचित सरकार को जनता का वास्तविक प्रतिनिधि मान भी लिया जाये तो भी सरकार को महज दो-तिहाई बहुमत के आधार पर कोई भी निर्णय लेने की आज़ादी नहीं मिल जाती है। इसी संदर्भ में सर्वोच्च न्यायालय ने 1973 में *केशवानंद भारती* के वाद में संसद की सर्वोपरिता को स्वीकार करते हुए इस पर 'मौलिक ढाँचे' का नियंत्रण भी स्थापित किया।[57] इतना ही नहीं, जहाँ तक सरकार के नीतिगत मामलों में स्वनियंत्रण अपनाने की दलील दी जा रही है, तो सरकार का प्रत्येक निर्णय किसी न किसी नीति से संबंधित होता है। तो क्या न्यायालय को सरकार के किसी भी मामले में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए? लेकिन यदि न्यायालय किसी भी मामले में हस्तक्षेप नहीं करेगा तो यह स्वयं शक्ति के पृथक्करण के सिद्धांत के ही ख़िलाफ़ होगा जिसकी दुहाई देते हुए उदारीकरण के पैरोकार आज न्यायालय को स्वनियंत्रण अपनाने की दलील दे रहे हैं। वस्तुत: यहाँ रोनाल्ड ड्वोर्किन द्वारा 'नीति' एवं 'सिद्धांत' के बीच किये गये अंतर को समझने की ज़रूरत है। इस फ़र्क़ को समझने के बाद हम इस बात को भी समझ पायेंगे कि किसी 'नीति' में हस्तक्षेप का मतलब उस नीति को ख़ारिज करना नहीं है बल्कि संवैधानिक अधिकारों की सुरक्षा करना है। इस लिहाज़ से चाहे काले धन से संबंधित मामला हो या 2-जी स्पेक्ट्रम के आवंटन का प्रश्न, न्यायालय को हस्तक्षेप का अधिकार है, क्योंकि यह ध्यान रखना कि 'कोई आदमी अपने ग़लत तरीक़ों से फ़ायदा न उठा पाए' पूरी तरह से एक 'सैद्धांतिक' मसला है।[58]

---

[54] *नंदिनी सुंदर एवं अन्य बनाम छत्तीसगढ़ राज्य, (2011)* : पैराग्राफ 68.

[55] वही.

[56] वही : पैराग्राफ़ 69.

[57] उपेंद्र बख़्शी (1985), *करेज़, क्राफ्ट ऐंड कॉन्टेंशन: द इंडियन सुप्रीम कोर्ट इन द एट्टीज़,* बंबई : ऐन.एम. त्रिपाठी; बख़्शी 1985 : 64-110.

इस प्रकार इतना तो साफ़ है कि 'नीतिगत निर्णयों' के हस्तक्षेप को लेकर की गयी सलवा जुडूम निर्णय की आलोचना सही नहीं है। फिर भी, इस निर्णय की दूसरी भी कुछ आलोचनाएँ हैं जिन पर ध्यान देने की ज़रूरत है। बेला भाटिया के अनुसार इस निर्णय में दो पहलू सबसे महत्त्वपूर्ण हैं— पहला सलवा जुडूम पर प्रतिबंध और दूसरा इस लड़ाई में एसपीओ के प्रयोग पर रोक लगाते हुए एसपीओ से हथियार वापस लेने का आदेश। लेकिन यहाँ होने वाले मानवाधिकार उल्लंघन के लिए केवल सलवा जुडूम और एसपीओ ही ज़िम्मेदार नहीं थे। उनके अनुसार इसके लिए सबसे ज़्यादा दोषी सुरक्षा बल हैं, लेकिन न्यायालय के निर्णय में ये किनारे से बचकर निकल गये हैं। इस घटना की वजह से तक़रीबन 500 लोग मारे गये, 99 महिलाओं के साथ बलात्कार हुआ, सैकड़ों घरों को जला दिया गया और कई गाँवों को उजाड़ दिया गया और हज़ारों लोगों को कैम्प में रहने के लिए या सीमावर्ती इलाकों में भाग जाने के लिए मज़बूर किया गया। यह निर्दयतापूर्ण और लगातार चलने वाली हिंसा महज़ सलवा जुडूम या एसपीओ से नहीं हो सकती थी। वस्तुतः सलवा जुडूम या एसपीओ तो केवल इसमें एक सहयोगी की भूमिका में था। इसमें अग्रणी तो इंडियन रिजर्व सिक्युरिटी बटालियन, सेंट्रल रिज़र्व सिक्युरिटी फोर्स तथा राज्य एवं जिला स्तर पर तैनात राज्य पुलिस की थी, जिसके बारे में इस निर्णय में ज़्यादा कुछ नहीं कहा गया है।[59] इन सैन्य बलों की इतनी बड़ी संख्या जिसमें अकेले केंद्रीय अर्धसैनिक बल की ही 40 बटालियन (यानी 40 हजार सिपाही) हों और 70 बटालियन तक की फ़ौज को लगाने की उम्मीद की जा रही हो उसके सामने महज़ 6500 एसपीओ की संख्या काफ़ी कम है।[60] उनके अनुसार युद्ध के इस दृश्य में एसपीओ का आगमन वर्ष 2005-06 में होता है जब विद्रोहियों का सामना करने के लिए एक रणनीति के तहत इसे लगाया गया। इसका सर्वप्रथम प्रयोग 1956-57 में मणिपुर में तथा उसके एक दशक बाद मिज़ोरम में देखने में आता है जो ब्रिटेन द्वारा मलेशिया में तथा संयुक्तराज्य द्वारा वियतनाम में अपनायी गयी घिनौनी रणनीति से प्रभावित था। इनके अनुसार एसपीओ और सलवा जुडूम का सबसे ख़तरनाक रूप 2005-06 में तथा कुछ मात्रा में 2007 में दिखायी दे रहा था। जिस समय न्यायालय का यह निर्णय आया उस समय तक तो सलवा जुडूम और एसपीओ का प्रभाव काफ़ी कम हो चुका था एवं कुछ छिट-पुट घटनाओं को छोड़ दें तो यह महज़ एक अतीत बनकर रह गया था तथा इसकी जगह पर इससे भी कहीं ज़्यादा ख़तरनाक एवं घातक 'ऑपरेशन ग्रीनहंट' जैसी रणनीति सामने आ गयी थी। लेकिन यह आश्चर्य ही है कि न्यायालय के निर्णय में 'ऑपरेशन ग्रीनहंट' की चर्चा तक नहीं है।[61] बेला भाटिया ने इस निर्णय के ऊपर राज्य के हाय-तौबा मचाने पर भी आश्चर्य जताया है क्योंकि राज्य सरकार तो इन आदिवासियों को पुलिस में भर्ती करके आराम से अपने कृत्य को अंजाम दे सकती है। उदाहरण के लिए आंध्र प्रदेश में पीपॅल्स वार ग्रुप के ख़िलाफ़ अभियान में एक दशक से भी अधिक समय तक हर साल औसतन 200 लोगों की मुठभेड़ में हत्याएँ हुईं, इसके लिए किसी एसपीओ की आवश्यकता नहीं पड़ी। उनके अनुसार यदि सर्वोच्च न्यायालय अपने निर्णय में व्यापक दृष्टिकोण को नहीं अपनाता है और इसे केवल एसपीओ के मामले तक सीमित कर देता है तो यह ठीक ऐसा प्रतीत होता है मानो 'आप एके-47 तो रख सकते हैं लेकिन आपको देशी कट्टे को छोड़ना होगा।' इन दलीलों के साथ बेला भाटिया सर्वोच्च न्यायालय के इस निर्णय को युद्ध तो नहीं लेकिन युद्ध की कार्यप्रणाली (मोडस ऑपरेंडी) के ही एक अभियोग पत्र की संज्ञा दे देती हैं।[62]

---

[58] रोनॉल्ड ड्वोर्किन (1977) : 82.

[59] बेला भाटिया (2011) 'जजिंग द जजमेंट', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 46, अंक 30: 14.

[60] वही : 15.

[61] वही : 15.

यद्यपि बेला भाटिया की इन आलोचनाओं में काफ़ी दम है, ख़ासकर तब ये आलोचनाएँ और भी महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती हैं जब हम देखते हैं कि इस न्यायिक निर्णय के आने के बाद छत्तीसगढ़ सरकार ने एसपीओ को राज्य पुलिस में भर्ती करने की प्रक्रिया शुरू कर दी तथा आगे चलकर केन्द्र सरकार द्वारा दायर पुनर्विचार याचिका की सुनवाई करते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने भी अपने इस निर्णय को केवल छत्तीसगढ़ राज्य की परिधि तक सीमित कर दिया।[63] लेकिन बेला भाटिया की ये आलोचनाएँ एक विस्तृत एवं अलग चर्चा की माँग करती हैं जिसमें उन बातों को बारीक़ी से समझने की ज़रूरत है जो न्यायालय के निर्णयों को प्रभावित करती हैं।[64] फिर भी, यह कहना कि न्यायालय के निर्णय आने तक एसपीओ और सलवा जुडूम अतीत की बात हो चुकी थी, पूरी तरह से सही नहीं है। न्यायालय के निर्णय आने के बाद भी एसपीओ और सलवा जुडूम का दुस्साहस एवं प्रभाव पूरी तरह से ख़त्म नहीं हुआ है, जो हाल में सीबीआई द्वारा सर्वोच्च न्यायालय में दायर हलफनामों से ज़ाहिर होता है जिसमें सीबीआई की टीम पर भी एसपीओ द्वारा हमले की बात बतायी गयी है।[65] दूसरा, जहाँ तक एसपीओ को राज्य पुलिस में भर्ती करके ऑपरेशन में लगाने की बात है तो एक बार पुलिस में भर्ती हो जाने के बाद वे उन सभी सुविधाओं एवं हक़ों के अधिकारी हो जाते हैं जो एक सामान्य पुलिसकर्मी को नियमों के तहत प्राप्त हैं। ऐसे में उनके प्रति राज्य सरकार की भी जवाबदेही बढ़ जाती है। स्थायी नौकरी हो जाने के बाद उन्हें ज़बरदस्ती किसी ख़तरनाक ऑपरेशन में लगाना या ढाल के रूप में प्रयोग करना उतना आसान नहीं होगा। तीसरा और सबसे महत्त्वपूर्ण, बेला भाटिया के अनुसार इस घटना के लिए अकेले एसपीओ ज़िम्मेदार नहीं था इसके लिए मौलिक रूप से सुरक्षा बल ज़िम्मेदार हैं, किन्तु न्यायालय ने उनके बारे में ज़्यादा कुछ नहीं कहा है। लेकिन मेरी समझ से इस घटनाक्रम के लिए सुरक्षा बल ज़िम्मेदार तो हैं लेकिन पूरी तरह से सुरक्षा बलों पर ही दोष मढ़ देना मामले का अतिसरलीकरण कर देना है। वस्तुतः सुरक्षा बलों के इन कुकृत्यों को राज्य का संरक्षण प्राप्त है जो उस 'विकास की नीति' के अनुसार संचालित हो रहा है जिसने समाज में अभाव और वंचना को जन्म दिया है एवं अमीरी और ग़रीबी के बीच की खाई को कहीं अधिक चौड़ा कर दिया है। 'विकास' की इसी नीति ने सशस्त्र संघर्ष को जन्म दिया है और एक वीभत्सकारी स्थिति उत्पन्न कर दी है। इसीलिए इस पूरे घटनाक्रम के लिए यदि कोई मौलिक रूप से ज़िम्मेदार है तो वह यह 'विकास' की नीति है एवं

---

[62] वही : 16.

[63] केंद्र सरकार ने फ़ैसले के ख़िलाफ़ पुनर्विचार याचिका दायर कर यह दलील दी कि एसपीओ की व्यवस्था को पूरी तरह से प्रतिबंधित कर देने से उत्तर-पूर्वी राज्यों, जम्मू और कश्मीर, आंध्र प्रदेश, उड़ीसा, बिहार एवं दूसरे अन्य राज्यों में क़ानून एवं व्यवस्था की समस्या उत्पन्न हो जाएगी और चरमपंथियों से निपटना मुश्किल हो जायेगा. 18 नवम्बर, 2011 को इस याचिका की सुनवाई करते हुए न्यायाधीश अल्तमस कबीर एवं न्यायाधीश एस.एस. निज्जर की पीठ ने 5 जुलाई ,2011 को सुनाये गये न्यायालय के फैसले को छत्तीसगढ़ राज्य की परिधि तक सीमित कर दिया। देखें जे. वेंकटेशन (2011); यद्यपि दूसरे राज्यों में भी कमोबेश समान स्थिति होने के बावजूद न्यायालय के द्वारा इस निर्णय को महज़ छत्तीसगढ़ राज्य की परिधि तक सीमित कर देना सही प्रतीत नहीं होता है। लेकिन इसकी एक वजह यह भी है कि छत्तीसगढ़ राज्य में एसपीओ की भूमिका को लेकर जो सरकारी एवं गैर-सरकारी रिपोर्ट एवं अध्ययन सामने आये तथा सलवा जुडूम एवं एसपीओ के ख़िलाफ़ अभियान चलाया गया, वैसा अध्ययन एवं अभियान दूसरे राज्यों के संदर्भ में नहीं दिखायी देता है। लेकिन समस्या केवल यहीं समाप्त नहीं होती है बल्कि इसके क्रियान्वयन को लेकर भी है। न्यायालय के निर्णय आने के बाद यदि इसे क्रियान्वित करवाने के लिए न्यायालय में अवमानना याचिका दायर करना पड़े तो यह भी काफ़ी अफ़सोसनाक स्थिति दर्शाता है. जे. वेंकटेशन (2012), 'छत्तीसगढ़ निगेटेड कोर्ट ऑर्डर सलवा जुडूम : कॉन्टेम्प्ट प्ली', *द हिंदू*, नयी दिल्ली, 25 जुलाई.

[64] इस संदर्भ में रॉबर्ट दाहल, जॉर्ज एच. गेडब्वायज़ (जू.) शेलश्री शंकर आदि लोगों ने अलग-अलग संदर्भों में अलग-अलग तरीक़े से अपनी व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। देखिये, रॉबर्ट ए. दाहल (1957), 'डिसीज़न मेकिंग इन अ डेमोक्रेसी : द सुप्रीम कोर्ट ऐज़ अ नेशनल पॉलिसी-मेकर', *जर्नल ऑफ़ पब्लिक लॉ,* खण्ड 1, अंक 2; जॉर्ज एच.गेडब्वायज़ जू. (1969), 'इंडियन सुप्रीम कोर्ट ज़जेज : अ पोर्ट्रेट', *लॉ ऐंड सोसाइटी रिव्यू,* खण्ड 3, अंक. 2/3; शैलश्री शंकर (2009), *स्केलिंग जस्टिस : इंडियाज़ सुप्रीम कोर्ट, एंटी टेरर लॉ ऐंड सोशल राइट्स,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

[65] देखें, 'सीबीआई ऑफिशियल्स अटैक्ड बाय छत्तीसगढ़ कॉप्स', *द टाइम्स ऑफ़ इंडिया* , नयी दिल्ली, 14 मार्च 2012 : 1.

न्यायालय के पूरे निर्णय में मूलत: इसी 'विकास' की नीति पर सवाल उठाया गया है और यही वह पहलू है जो इस निर्णय की प्रासंगिकता को स्थापित करता है। मेरे इस लेख का उद्देश्य भी न्यायालय के इसी पहलू पर प्रकाश डालना है।

## निष्कर्ष के तौर पर

वस्तुत: लोकतंत्र का तात्पर्य महज़ निर्वाचित सरकार ही नहीं होता है बल्कि इसका तात्पर्य लोकतांत्रिक एवं नागरिक अधिकारों की गारंटी भी होता है। जो लोग शक्ति के पृथक्करण के सिद्धांत का तर्क देते हुए न्यायालय को स्वनियंत्रण अपनाने की सलाह दे रहे हैं, वे यह भूल जाते हैं कि संविधान के दर्शन के अंतर्गत 'समाजवाद' नामक एक महत्त्वपूर्ण शब्द भी आता है जिसकी दिशा में आगे बढ़ना भी सरकार का दायित्व है। यह सही है कि न्यायालय को सरकार के हर मामले में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए और यह एक बहस का मुद्दा भी हो सकता है। लेकिन यदि सरकार के निर्णयों से ग़रीबों एवं शोषितों का शोषण बढ़ रहा हो, भ्रष्टाचार से जनता की गाढ़ी कमाई को सरकार एवं कॉरपोरेट सेक्टर में बैठे चंद लोग लूट रहे हों, नागरिक अधिकारों का लगातार उल्लंघन हो रहा हो तथा सरकार की नीतियों के ख़िलाफ़ उठने वाली आवाज़ों का दमन किया जा रहा हो तो ऐसी स्थिति में 'न्यायिक स्वनियंत्रण' अपनाने की दलील देकर न्यायालय से महज़ तकनीकी न्यायालय बने रहने की अपेक्षा नहीं की जा सकती है। यहाँ सरकार के नीतिगत फ़ैसलों में न्यायालय का हस्तक्षेप ग़लत नहीं है बल्कि न्यायालय का हस्तक्षेप नहीं करना ग़लत होगा क्योंकि संविधान के अंतर्गत लोगों के अधिकारों के संरक्षण की ज़िम्मेदारी न्यायालय की है।[66] इसलिए जब कभी नागरिकों के मौलिक अधिकारों का उल्लंघन होता है तो चाहे वे सरकार के 'नीतिगत निर्णयों' के कारण से ही क्यों न हों, न्यायालय को हस्तक्षेप करने का अधिकार है। अत: इस संदर्भ में न्यायालय द्वारा सरकार की 'विकास-नीति' की आलोचना को न्यायिक सीमा रेखा के उल्लंघन के रूप में न देख कर संविधान द्वारा न्यायपालिका को दी गयी ज़िम्मेदारियों के निर्वहन के रूप में देखा जाना चाहिए। हालाँकि सरकार द्वारा दायर पुनर्विचार याचिका की सुनवाई करते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने इस निर्णय को केवल छत्तीसगढ़ राज्य तक सीमित कर दिया है, इसके बावजूद इस निर्णय के अंतर्गत न्यायालय ने जो दृष्टिकोण अपनाया, उसके लिए इसकी प्रशंसा की जानी चाहिए।

न्यायिक प्रक्रिया को पूरी तरह से विशुद्ध मशीनीकृत प्रक्रिया मानना एक बहुत बड़ी ग़लती है। न्यायालय के समक्ष ढेर सारी व्याख्याओं के विकल्प मौजूद होते हैं और यह न्यायाधीश पर निर्भर करता है कि वह उनमें से कौन से विकल्प को चुनता है।[67] सलवा जुडूम निर्णय को भी सामाजिक नीति के नज़रिये से चुने गये एक बेहतर विकल्प के रूप में देखा जाना चाहिए। लेकिन यहाँ कुछ दूसरे सवाल भी उत्पन्न होते हैं। क्या इस वाद में या पिछले दिनों चर्चा में आये दूसरे वादों में न्यायालय की अपनी इस भूमिका के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि न्यायालय एक बार फिर से अपनी उस भूमिका में वापस आ गया है जिसे एक समय 'पुनर्लोकतांत्रीकरण' के प्रयास के रूप में देखा गया था? महज़ एक-दो वादों के आधार पर इतनी जल्दी इस तरह का सामान्यीकरण करना तो उपयुक्त नहीं होगा लेकिन अट्ठावन पृष्ठों और इक्यासी पैराग्राफ़ के निर्णय के अंतर्गत न्यायाधीश रेड्डी और न्यायाधीश निज्जर ने जो संवेदनशीलता व्यक्त की है, उससे कम से कम एक जनोन्मुख न्यायपालिका की वापसी के प्रति आशा तो जगती ही है।

---

[66] भारतीय संविधान के अनुच्छेद 32 तथा अनुच्छेद 226 की व्यवस्था के अनुसार कोई भी नागरिक संविधान के भाग-3 में दिये गये मौलिक अधिकारों का उल्लंघन होने पर सीधे सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालय में याचिका दायर कर सकता है.

[67] एस.पी. साठे (1970ख) : 744.

## संदर्भ

*ऑल इंडिया आईटीडीसी वर्कर्स युनियन एवं अन्य बनाम आईटीडीसी एवं अन्य* (2006). 2007 एआईआर 301 (2006) 10 एससीसी 66.

आई.सी. गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य (1967). 1967 एआईआर 1643, 1967 एससीआर 762.

*ओल्गा टेनिस बनाम मुंबई म्युनिसिपल कॉरपोरेशन एवं अन्य* (1985). 1986 एआईआर 180 (1985) 3 एससीसी 545.

'इनक्रोचर्स हैव नो राइट ओवर पब्लिक लैण्ड' द *टाइम्स ऑफ़ इंडिया,* नयी दिल्ली, 10 मई 2006 :1.

*इंद्र सॉहनी बनाम युनियन ऑफ़ इंडिया एवं अन्य* (1999). 2000 एआईआर 498 (2000) 1 एससीसी 168.

उपेंद्र बख्शी (1985), *करेज़, क्राफ़्ट एंड कॉन्टेंशन : द इंडियन सुप्रीम कोर्ट इन द एट्टीज़,* ऐन. एम. त्रिपाठी. बंबई.

—— (1989) 'टेकिंग सफ़रिंग सीरियसली : सोशल एक्शन लिटिगेशन इन द सुप्रीम कोर्ट ऑफ़ इंडिया'. उपेन्द्र बख्शी (सम्पा.), *लॉ ऐंड पॉवर्टी : क्रिटिकल एसेज,* ऐन.एम. त्रिपाठी, बंबई.

—— (1997 क), 'जुडिशियल एक्टिविज़म : यूज़रपेशन और रिडेमॉक्रैटाइज़ेशन ?' *सोशल एक्शन,* खण्ड 47, अंक 4.

—— (1997 ख), 'अ पिलग्रिम्ज़ प्रोग्रेस : द बेसिक स्ट्रक्टर रिविज़िटेड', *इंडियन बार रिव्यू,* खण्ड 24, अंक 1 और 2 : 58–59;

ए.जी. नूरानी, (2001), ''बिहाइंड द 'बेसिक स्ट्रक्चर' डॉक्ट्रिन : ऑन इंडियाज़ डेट टु जर्मन जुरिस्ट प्रोफ़ेसर डिट्रिक कॉनरेड'', *फ्रंटलाइन,* खण्ड 18, अंक 9.

एस. मोहन कुमारमंगलम (1970), 'स्लाइड-बैक ऑन कम्पेंसेशन : बैंक नेशनलाइज़ेशन जज़मेंट', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 5, अंक 8.

एस. पी. साठे (1970 क), 'ऐन इंटरव्यू विद सुब्बा रॉव', *जर्नल ऑफ़ कांस्टीट्यूशनल एंड पार्लियामेंट्री स्टडीज़,* खण्ड 4, जनवरी-मार्च.

—— (1970 ख), 'राइट टू प्राइवेट पॉप्रर्टी : सम इशूज़', *इकनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 5, अंक 18.

—— (2002), *जुडिशियल एक्टिविज़म इन इंडिया : ट्रांसग्रेसिंग बॉर्डर्स ऐंड इनफोर्सिंग लिमिट्स,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

'एससी क्लीयर कंस्ट्रक्शन ऑन गेम विलेज साइट' द *इंडियन एक्सप्रेस,* नयी दिल्ली, 31 जुलाई 2009: 1.

ग्रेनविले ऑस्टिन (2000), 'द सुप्रीम कोर्ट ऐंड द स्ट्रगल फॉर द कस्टडी ऑफ़ द कांस्टिट्यूशन', बी.ऐन. कृपाल एवं अन्य (सम्पा.) *सुप्रीम बट नॉट इनफेलिएबल : एसेज़ इन ऑनर ऑफ़ द सुप्रीम कोर्ट ऑफ़ इंडिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

—— (2009), *वर्किंग अ डेमॉक्रैटिक कॉन्सटीट्यूशन : अ हिस्ट्री ऑफ़ द इंडियन एक्सपीरिएंस,* (छठा संस्करण), ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली, (प्रथम संस्करण 1999).

जॉर्ज एच. गेडब्वायज़ जू. (1969), 'इंडियन सुप्रीम कोर्ट ज़जेज : अ पोर्ट्रेट', *लॉ ऐंड सोसाइटी रिव्यू,* खण्ड 3, अंक. 2/3.

जे. वेंकटेशन (2011), 'एसपीओ बैन विल अप्लाय वनली टू छत्तीसगढ़ : कोर्ट', द *हिंदू,* नयी दिल्ली, 18 नवंबर.

—— (2012), 'छत्तीसगढ़ निगेटिड कोर्ट ऑर्डर सलवा जुडूम : कंटेम्प्ट प्ली', द *हिंदू,* नयी दिल्ली, 25 जुलाई.

'टेम्पल, सीडब्ल्यूजी विलेज़ शुड नॉट हैव कम अप ऑन रिवर बेड : जयराम', द *इंडियन एक्सप्रेस,* दिल्ली,

8 जनवरी 2011 : 1.

थॉमस एम. केक (2004), द *मोस्ट एक्टिविस्ट कोर्ट इन हिस्ट्री : द रोड टु मॉडर्न जुडिशियल कंज़रवेटिज़म,* युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो एवं लंदन.

निवेदिता मेनन और आदित्य निगम (2007), *पॉवर ऐंड कंटेस्टेशन : इंडिया सिंस 1989,* ज़ेड बुक्स, लंदन.

*नंदिनी सुंदर एवं अन्य बनाम छत्तीसगढ़ राज्य (2011).* 2011 एआईआर 2839 (2011) 7 एससीसी 547.

परमानंद सिंह (2008), 'पब्लिक इंटरेस्ट लिटिगेशन', कमला शंकरन एवं उज्ज्वल कुमार सिंह (सम्पा.) *टुवर्ड्स लीगल लिट्रेसी : ऐन इंट्रोडक्शन टु लॉ इन इंडिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

प्रशांत भूषण (2004), 'सुप्रीम कोर्ट ऐंड पीआईएल : चेंजिंग पर्सपेक्टिव अंडर लिबरलाइज़ेशन', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 39, अंक 18.

—— (2007), पब्लिक इंटरेस्ट लिटिगेशन : सुप्रीम कोर्ट इन इरा ऑफ़ लिबरलाइजेशन', बी. डी. दुआ, एम. पी. सिंह और रेखा सक्सेना (सम्पा.), *इंडियन जुडिशियरी एंड पॉलिटिक्स : द चैलेंजिंग लैण्डस्केप,* मनोहर, नयी दिल्ली.

—— (2009), 'मिसप्लेस्ड प्रायोरिटी ऐंड क्लास बायस ऑफ़ द जुडिशियरी', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 54, अंक 14.

भारत सरकार (2007), *व्हाइट पेपर ऑन डिसइनवेस्टमेंट ऑफ़ सेंट्रल पब्लिक सेक्टर इंटरप्राइजेज,* वित्त मंत्रालय, विनिवेश विभाग, 31 जुलाई.

बेला भाटिया (2011), 'जजिंग द जजमेंट', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 46, अंक 30.

बाबू पी. रमेश (2006), *इंपेक्ट ऑफ़ प्राइवेटाइज़ेशन ऑन लेबर : अ स्टडी ऑफ़ बालको डिसइनवेस्टमेंट,* वी.वी. गिरि नेशनल लेबर इन्सटीट्यूट, नोएडा.

*बालको इम्पलॉयी युनियन बनाम युनियन ऑफ़ इंडिया एवं अन्य (2001).* 2002 एआईआर 350 (2002) 2 एससीसी 333.

'बालको रेज़िडुअल स्टेक सेल स्टॉल्ड', इंडो एशियन न्यूज सर्विस (आइएऐनएस), 2006, 31 अगस्त, www.ians.in से 23 मई 2011 को देखा गया.

*नेशनल टेक्सटाइल वर्कर्स युनियन बनाम पीआर रामकृष्णन और अन्य (1983).* 1983 एआईआर 750, (1983) 3 एससीसी 105.

रविशंकर प्रसाद (2011), 'सिक्युरिटी मस्ट बी सुप्रीम इन छत्तीसगढ़', द *इंडियन एक्सप्रेस,* नयी दिल्ली, 1 अगस्त.

राज्यसभा डिबेट (2007) 'इंपेक्ट ऑफ़ प्राइवेटाइज़ेशन ऑफ़ बालको ऑन लेबर', प्रश्न संख्या 669, 26 नवंबर : 67-68.

राजीव धवन (1997), 'इंट्रोडक्शन', मार्क गेलेंटर द्वारा लिखित, *लॉ ऐंड सोसाइटी इन मॉडर्न इंडिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

रॉबर्ट ए. डाल (1957), 'डिसीज़न मेकिंग इन अ डेमॉक्रैसी : द सुप्रीम कोर्ट ऐज़ अ नेशनल पॉलिसी-मेकर', *जर्नल ऑफ़ पब्लिक लॉ,* खण्ड 1, अंक 2.

रोनॉल्ड ड्वोर्किन (1977), *टेकिंग राइट्स सीरियसली,* युनिवर्सल, नयी दिल्ली (5वाँ संस्करण 2010).

*रुस्तम कवासजी कूपर बनाम युनियन ऑफ़ इंडिया (1970).* 1970 एआईआर 564, (1970) 1 एससीसी 248.

लुकाज़ ए. पॉ (जूनियर) (2009), द *सुप्रीम कोर्ट एंड द अमेरिकन इलीट, 1789-2008,* हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज एवं लंदन.

विदेह उपाध्याय (2000), 'चेंजिंग जुडिशियल पॉवर : कोर्ट एंड इंफ्रास्ट्रक्चर प्रोजेक्ट एंड इनवायरनमेंट', *इकनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 45, अंक 35.

शेखर गुप्ता (2011), 'द सुप्रीम कोर्ट', द *इंडियन एक्सप्रेस,* नयी दिल्ली, 9 जुलाई.

शैलश्री शंकर (2009), *स्केलिंग जस्टिस : इंडियाज़ सुप्रीम कोर्ट, एन्टी टेरर लॉ ऐंड सोशल राइट्स,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

शोमा चौधरी (2006), 'द नंगलामाची ब्लॉगर्स', *तहलका,* 3 जून, खण्ड 3, अंक 21.

शोभनलाल दत्त गुप्ता (1989), *जस्टिस एंड द पॉलिटिकल ऑर्डर इन इंडिया : ऐन इनक्वैरी इनटू द इन्सटीट्यूशंस ऐंड आइडियोलॅजीज़ 1950-1972,* के.पी. बागची एंड कम्पनी, कलकत्ता.

*शंकरी प्रसाद बनाम युनियन ऑफ़ इंडिया (1951).* 1951 एआईआर 458, 1952 एससीआर 89.

*समता बनाम आंध्रप्रदेश राज्य (1997).* एआईआर 3297 (1997) 8 एससीसी 191.

*सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य (1964).* 1965 एआईआर 845, 1965 एससीसीआर 933.

*सलवा जुडूम : संविधान के साथ खिलवाड़ : नंदिनी सुंदर एवं अन्य बनाम छत्तीसगढ़ राज्य के वाद में सर्वोच्च न्यायालय का फैसला* (2011), (अनुवाद : कमल नयन चौबे) प्रकाशक : नंदिनी सुंदर, नयी दिल्ली.

'सीएजी रेज़िज़ क्वेश्चंस ओवर बालको वेल्यूएशन,' द *इंडियन एक्सप्रेस,* दिल्ली, 19 सितंबर, 2002.

'सीबीआई ऑफिशियल्स अटैक्ट्ड बाय छत्तीसगढ़ कॉप्स', द *टाइम्स ऑफ़ इंडिया,* 14 मार्च 2012.